निवेदन

रत्नमाला का यह पहला रत्न पाठकों को भेंट करते हुए मुझे इससे अधिक कहने की कुछ आवश्यक्ता नहीं है कि इस पुण्यभूमि आर्यवर्त में जहां किसी समय प्रेम का समुद्र लहरें मारता था, सर्व कोई जीव मात्र की भलाई करने को ही परम धर्म समझता था और छोटे से छोटे जीवको भी किसी प्रकार की हानि पहुंचाना महापाप माना जाता था वहां आज फूट का बाज़ार गरम हो रहा है, दया और प्रेम का तो निशान भी नज़र नहीं आता है, यहां तक कि मनुष्यों से घृणा करना ही धर्म होगया है, विचार शून्यता फैलकर प्रचलित रीति रिवाज ही धर्म सिद्धान्त माने जाने लगगये हैं, मूढ़ता और अन्ध-श्रद्धा फैलकर मनुष्यों का जीवन भी पशु समान महा दुःखदाई होगया है, धर्म के ठेकेदार पं० और साधु भी बहुदा कर प्रचलित रूढ़ियों और महा दुखदाई कुरीतियों को ही धर्म बताने लगगये हैं, आंखें खोलकर धर्म की पहचान करने से दूर हटाते हैं, बुद्धि और ज्ञानसे काम लेना पाप बताते हैं, ऐसी दशा में आर्य ग्रन्थों से रत्न चुन २ कर एक देदीप्यमान रत्नमाला प्रकाशित करने की अति आवश्यकता है जो इस मिथ्या अन्धकार को दूरकर सत्यका प्रकाश करदे। इस रत्न-माला के प्रकाशित करने का प्रयत्न सोने चांदीके व्यापारी श्रीमान् बाबू तिलोकचन्द जी कलकत्ते ने किया है जिसका यह प्रथम रत्न सत्य के प्रेमियों के हितार्थ प्रकाशित किया जाता है। इसही प्रकार एक२ करके अनेक रत्न प्रकाशित होते रहेंगे जिससे मिथ्या अन्धकार दूर होकर सत्य का उद्योत होजाना निश्चय है।

निवेदक—

कुलवन्तराय जैनी

हरदा (सी० पी०)

ॐ

श्री जिनेन्द्राय नमः

धर्म सिद्धान्त-रत्नमाला

प्रथम रत्न

(लेखक–श्रीमान बा० सूरजभान जी वकील

उत्तम श्रद्धान, उत्तम ज्ञान और उत्तम चलन अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही जीव का कल्याण करने वाला है। यह ही उसको संसार के दुःखों से छुड़ाकर परमानन्द पद प्राप्त कराने वाला है। तत्वों का सत्य श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। श्रद्धान और ज्ञान एक साथ होता है और उस श्रद्धान और ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति करना उत्तमचारित्र है, जो सयम्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्राप्तहोने के पश्चात् ही होता है। सम्यक्श्रद्धान के विदून सम्यक् चारित्र नहीं हो सकता है किन्तु सम्यक् चारित्र के विदून सम्यग्दर्शन हो सकता है। इस ही वास्ते सब से पहिले सम्यक् श्रद्धान प्राप्त करने की हीकोशिश करनी ज़रूरी है! इस के बिना सबही क्रिया व्यर्थ हैं और कुछ भी कार्यकारी नहीं हो सकती हैं। यह सम्यग्दर्शन बहुधा जीवादि पदार्थ के स्वरूप को नय प्रमाण की कसौटी पर कस कर परीक्षा करने से ही प्राप्त होता है जिसका सहज उपाय श्रीपरमवीतरागी आचार्यों रचित ग्रन्थों का पढ़ना और उनके रहस्य को समझना ही है! जीव और अजीव इन दो प्रकार के पदार्थों के सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ किसी भी जगह नहीं है! इस

कारण इन ही दोनों प्रकार के पदार्थों के असली स्वरूप को जान कर उस पर श्रद्धान लाना जीवों के वास्ते परम कल्याण कारी है। जीव का असली स्वरूप सत्-चित् आनन्द अर्थात् सर्वज्ञता व वीतरागता ही है और परमानन्दपना ही है परन्तु अनादिकाल से सब ही जीव मान, माया, लोभ, क्रोधादि कषायों के द्वारा कर्म उपार्जन करके उन कर्मों के फँदे में फँसते हैं और देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यंच इन चार प्रकार की गतियों में भ्रमण करतेहुए तरह २ के दुःख उठारहे हैं और कभी अधिक दुःख के पश्चात् जब उस दुखमें कमी होती है तो उसको सुख मानने लगते हैं। इस ही प्रकारके सुख दुःख के चक्करमेंसंसार के सब जीव पड़े हुए हैं। इन में से जो २ जीव संयम धारण करके कषायों को दबाकर नवीन कर्मों की उत्पत्ति और अपनी आत्मा से उसका सम्बन्ध होना रोकदेते हैं और तपश्चरण तथा ध्यान के द्वारा पिछले बंधे कर्मों को भी क्षय कर देते हैं उनको परम चैतन्यता रूप अपना असली गुण प्राप्त हो कर सर्वज्ञता और परम वीतरागता प्राप्त हो जाती है और कर्मों के बन्धन से छूट कर मोक्ष मिल जाती है वह ही सिद्ध कहलाते हैं। इस प्रकार अनादि काल से अनेक जीव सिद्ध पद भी प्राप्त करते चले आ रहे हैं और अनन्त काल तक इस ही प्रकार प्राप्त करते रहेंगे परन्तु जीव अनन्त हैं इस कारण कभी भी यह संसार समाप्त नहीं होगा। इस प्रकार जीव और अजीव इन दो पदार्थों के जानने के साथ इस २ बातके जानने की भी ज़रूरत है कि कर्म किस प्रकार पैदा होते हैं जिसको आस्रव कहते हैं। किस प्रकारइन कर्मों का जीवात्मा से सम्बन्ध होता है और क्या फल मिलता है जिसको बन्ध कहते हैं। यह आस्रव और बन्ध किस प्रकार रोका जा सकता है जिसको संवर कहते हैं, और

बँधे कर्म किस प्रकार नाश किये जा सकते हैं जिसको निर्जरा कहते हैं और अन्त में मोक्ष का स्वरूप क्या है ? इस प्रकार जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों को भले प्रकार जानना और इन पर श्रद्धान लाना अति ही जरूरी है। इन ही पर श्रद्धान लाने से सच्चा श्रद्धान प्राप्त होता है और इन ही के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का साधन करने से सम्यक् चारित्र होता है। जीव अमूर्तीक है अर्थात् आंख, नाक, कान, जीभ, और छूने से नहीं जाना जा सकता है। उसका तो लक्षण ज्ञान ही है जो कुछ भी ज्ञान रखता है वह ही जीव है और जिसमें कुछ भी ज्ञान नहीं है वह अजीव है। अजीव अनेक प्रकार के हैं जिनमें ईंट पत्थर लकड़ी लोहा आदि जो आँख नाक आदि इन्द्रियों के द्वारा देखे जाने जाते हैं वह तो मूर्तीक हैं और पुद्गल कहलाते हैं और अन्य सब अमूर्तीक हैं। जीव भी अमूर्तीक है परन्तु सर्व प्रकार के संसारी जीवों का शरीर पुद्गल का ही बना हुआ है। उसमें यह जीव इस प्रकार घुल मिल रहा है जैसे दूध में मिठाई। इस ही कारण शरीर के किसी भी प्रकार हलन चलन करने से उसके अन्दर के जीव में भी हलन चलन क्रिया होती है इस ही मन वचन व काया के योग से अर्थात् उन के द्वारा क्रिया होने से आस्रव अर्थात् कर्मों की उत्पत्ति होती है। यह मन वचन काय की क्रिया यदि किसी प्रकार की कषाय के द्वारा होती है तो कषाय करने वाली जीवात्मा से उस कर्म का सम्बन्ध होजाता है अर्थात् उसका उसको फल भोगना पड़ता है। आस्रव के कारणों को न होने देना संवर है। क्रोध को क्षमा से, मान को कोमल भावों से, माया को सरलता से, लोभ को परिग्रह-त्याग से, इसी प्रकार आस्रव के सब ही कारणों को सम भाव आदि

के द्वारा रोकना संवर है। कर्मों के नाश को निर्जरा कहते हैं। यह कर्म जीव को अपना २ फल देकर आप ही नाश होते रहते हैं और नवीन नवीन पैदा होते रहते हैं। यह चक्र अनादिकाल से चला आ रहा है परन्तु अपने कल्याण के इच्छुक ज्ञानी पुरुष तप के द्वारा इन कर्मों को बिना फल दिये ही नाश करके और नवीन कर्म पैदा होने को रोक कर इस कर्म-चक्र को बन्द कर देते हैं और सब ही कर्मों से रहित होकर मुक्ति पालेते हैं।

संसारी जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इस प्रकार अपने २ कर्मानुसार चार गतियों में भ्रमण करते रहते हैं उनका लक्षण इस प्रकार है :—

ण रमन्ति जदो णिच्चं दव्वे खेत्तेय काले भावे य।
अण्णो ण्णेहि य जह्मा तह्मा ते णारया भणिया॥

अर्थात्-द्रव्य क्षेत्र काल भाव में जो न तो स्वयं रमते हैं और न परस्पर में किसी प्रकार की प्रीति करते हैं वह नारकी हैं अर्थात् नरक के सर्व प्रकार के पदार्थों में वहां के सर्व प्रकार के स्थानों में, सर्व काल में और सर्व ही प्रकार की अवस्थाओं में उनको किसी भी प्रकार की रुचि नहीं होती है, वह वहां की प्रत्येक बात से घृणा ही करते हैं, क्लेश ही मानते हैं। इस ही प्रकार वह आपस में भी प्रेम नहीं करते हैं किन्तु आपस में एक दूसरे को दुख ही पहुंचाना चाहते हैं। पाप के उदय से उनका ऐसा ही दुष्ट स्वभाव हो जाता है, नहीं तो आपस में सहानुभूति करने और एक दूसरे को सहायता पहुंचाने से और सहन शीलता तथा सन्तोष धारण करने से उनका क्लेश बहुत कम हो सकता था परन्तु वह तो ऐसे क्रूरस्वभावी होजाते हैं कि आपस में एक दूसरे को अधिक २ दुःख पहुंचाने की चिन्ता करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। इस ही से अपने दुःख को और भी

ज्यादा बढ़ाते हैं। इस पृथ्वी पर भी यह देखने में आता है कि जो दलित हैं, दूसरों से अत्यन्त सताए हुए हैं, गुलाम हैं, बेबस हैं या कैदी हैं वह भी आपस में एक दूसरे को सहायता नहीं करते हैं। झूठी सच्ची चुगली खा २ कर आपस में एक दूसरे पर अधिक २ जुल्म कराने और मारने पिटवाने की चेष्टा करते रहा करते हैं। दूसरे भी इनको झूठी सच्ची चुगली खा कर इन पर जुल्म करते रहा करते हैं। गरज इस रीति से सब ही अधिक २ दुख उठाते हैं। सब मिल कर अपने दुःखों को दूर करने का उपाय नहीं बनाते हैं। पाप कर्मों का ऐसा ही परिणाम होता है। हिन्दुस्तान में तो सब ही लोग आपस में एक दूसरे के बेटा बेटी के विवाह आदि कार्यों में उसको बहका २ कर और उभार २ कर बहुत २ खर्च करा देते हैं। नहीं करता है तो उसे बदनाम करते हैं और अन्य भी अनेक रीतियों से दिक करते हैं, लाचार वह सब लोगों की इच्छानुसार ही खर्च करता है और भूखा कङ्गाल हो कर महा क्लेश भोगता है। न खाता है न पीता है न कुछ धर्म कार्य ही कर सकता है किंतु बेटा बेटी के कार्यों के वास्ते धन एकत्रित करनेकी ही चिन्तामें हाय २ करता रहता है। यह दुःख बारी २ से सब ही को उठाने पड़ते हैं। पर सब मिल कर इन दुःखों को हटाने की चेष्टा नहीं करते हैं। दूसरों को अधिक २ लुटाना और सताना ही अपना परम कर्तव्य समझ रहे हैं। ऐसी क्रूर बुद्धि पाप के उदय से ही ही होती है जिससे आपको भी और दूसरों को भी महाक्लेश उठाना पड़ता है, रोते हैं और कुछ उपाय नहीं कर सक्ते हैं। यह उनकी नारकियों के समान दशा नहीं तो और क्या है।

तिरियन्ति कुडिलभावं सुविउलसएणा णिगिट्ठि मएणाणा।
अच्चंतपावबहुला तह्मा तेरिच्छया भणिया ॥

अर्थात्-मन से, वचन से, और काया से तीनों ही प्रकार से जिनके भाव कुटिल हों, मैथुन आदि क्रियायें जिन की प्रगट रूप होती हों, जो निकृष्ट अज्ञानी हों, पाप ही को जिनमें अत्यन्त आधिक्यता हो, वह तिर्यंच कहे जाते हैं। भावार्थ सर्व प्रकार के कीड़े मकौड़े और पशु पक्षी तिर्यंच कहाते हैं। मनुष्यों में भी जो कुटिल परिणामी हैं. मन में कुछ, वचन में कुछ और क्रिया में कुछ ऐसे जो मक्कार और मायाचारी हैं; अज्ञानी व मूर्ख हैं, भलाई बुराई और नफ़े नुकसान को समझने की कोशिश नहीं करते हैं, भारी भारी पाप करने को ही अपना महान कर्तव्य समझते हैं, कामवासना में फँसकर लज्जा कज्जा और शर्म हया को उठाकर फेंक देते हैं वह भी तिर्यंचों में ही गिने जाने के योग्य हैं, खाने पीने के अतिलोलुपी वा कामवासना में अतिगृद्ध होकर शर्म हया न करने वाले को और महामूर्खों को तो लोग कहने भी लगते हैं कि यह तो पशु वा डङ्गर है मनुष्य नहीं है, इसी प्रकार जो पापों में ही अधिक रत रहते हैं दूसरों पर ज़ुल्म करने से नहीं डरते हैं वह भी एक प्रकार से तिर्यंच ही हैं।

मणणंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जह्मा ।
मणणु नमवाय सव्वे तह्मा ते माणुसाभणिदा ॥

अर्थात्-जो सदा विचार से काम लेते हों अर्थात् जिन को नित्य ही योग्य अयोग्य, कर्तव्य अकर्तव्य, भले बुरे, तत्व अतत्व, और धर्म अधर्म का विचार रहता हो; जो विचार करने में निपुण हों अर्थात् जिन को विचार शक्ति बढ़ी हुई हो और जो मनुओं अर्थात् कुलकरों के द्वारा उत्पन्न हुए हों वह मनुष्य कहलाते हैं। इसमें भी यह ही विचार करना चाहिये कि जो अत्य विचार से काम लेते हैं, और भले बुरे की जांच करते हैं

वह ही मनुष्य गिने जाने के योग्य हैं। जो बुद्धि और विचार से कुछ भी काम नहीं लेते हैं, किन्तु आँख मींचकर प्रचलित प्रवृत्तियों और रीति रिवाजों का अनुकरण करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं वा विना विचारे दूसरों की रीस करने लगते हैं, भेड़ाचाल के अनुसार चलने वाले हैं और लकीर के फकीर बने हुए हैं वह मनुष्य कैसे गिने जा सकते हैं? वह तो तिर्यंचों की कोटि में आते हैं। यदि सब ही मनुष्य विचार से काम लेने लगें अर्थात् शास्त्र के इस लक्षण के अनुसार मनुष्य होजावें तो कुछ भी दुख मनुष्य समाज में न रहे, सब ही बातों का सुधार हो जावे परन्तु शोक तो यह ही है कि मनुष्य का रूप धारण करके भी अनेक मनुष्य विचारसे काम नहीं लेते हैं और आँख मीच कर प्रचलित रीतियों पर चलना वा दूसरों की रीस करना अर्थात् पशुओं की तरह जीवन बिताना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। इस ही से मनुष्यसमाज दुख उठाती है और कुछ भी उन्नति नहीं कर सक्ती है, जिस समय इस हिन्दुस्तान में विचार से काम लिया जाता था तब यहां के लोग सब ही देशों के सरताज बने हुए थे और जब से यहां के लोगों ने विचार से काम लेना छोड़ दिया है किन्तु पशुओं की तरह प्रचलित प्रवृतियों पर चलना ही अपना धर्म समझ लिया है तबही से वह दूसरों के आधीन होगये हैं और गिरते २ यहां तक गिर गये हैं कि कई देशों में तो वे मनुष्य ही नहीं गिने जाते हैं और अपनी इस दुर्दशा को सुधारने का कुछ भी उपाय नहीं कर सक्ते हैं। हमको भी मनुष्य मानो और मनुष्यों जैसे अधिकार प्रदान करो ऐसा चिल्लाते ज़रूर हैं परन्तु इस चिल्लाने से क्या होता है? जब तक, विचार से काम लेना शुरू नहीं करेंगे और प्रवृतियों और रूढ़ियों के पीछे चलना नहीं

छोड़ेंगे अर्थात् जब तक मनुष्य नहीं बनेंगे तब तक तो वह न तो मनुष्य ही माने जासके हैं और न उनको मनुष्यों जैसे अधिकार ही मिल सके हैं।

दीव्वन्ति जदो णिच्चं गुणेहिं अट्ठेहि दिव्व भावेहिं।
भासन्त दिव्व कामा तह्मा ते वण्णिया देवा ॥

जो अष्ट प्रकार की ऋद्धियों के कारण सदा प्रफुल्लित और हर्षायमान रहते हैं और जिन की काया भी चमकती रहती है वह देव कहाते हैं। जैन सिद्धान्तानुसार नारकी और देव असंयमी होते हैं किसी भी प्रकार का व्रत संयम धारण नहीं कर सकते हैं। तिर्यंच अर्थात् पशु पक्षी तो अनुव्रती अर्थात् किञ्चित मात्र व्रत धारण करने वाले हो भी सकते हैं परन्तु नारकी और देव इतना भी नहीं कर सकते हैं कारण इस का यही हो सकता है कि नारकी तो अत्यन्त पद दलित होकर अपने दुःखों में ही दुखी रहते हैं और किसी प्रकार भी शान्ति धारण नहीं कर सकते हैं जिससे वे किसी प्रकार का व्रत संयम लेने के योग्य हो जावें। अपनी अति तीव्र कषायों को दबा कर पाप रूप दुख दाई परिणामों से अपने मन को हटालें और अपने सुधार के वास्ते कुछ भी उपाय कर पावें, वह तो अपने महासङ्क्लेश के परिणामों के कारण कुछ भी नहीं कर सकते हैं। इस ही प्रकार स्वर्गों के देव भी अपनी सम्पत्ति विभूति के भोग में ऐसे मदोन्मत्त होजाते हैं, विलासता में ऐसे फँस जाते हैं कि अपने अपने परिणामों को सिंभालने और किंचित मात्र भी संयम धारण करने के योग्य नहीं होते हैं, यह ही बात हम यहां मनुष्यों में भी देखते हैं कि जो दुखों से अत्यंत व्याकुल और दीन हीन हैं, संसार की चक्की में पिसकर जिनका चूर चूर होगया है, तड़पने रोने और हाय कलाप करने के

सिवाय जिन्हें और कुछ सूझता ही नहीं है वह भी अपनी कषायों को दबाकर और अपने परिणामों को सिंभाल कर संयम की तरफ़ नहीं जासक्ते हैं। हृदय में तो चिन्ताओं की अग्नि धधक रही है, धरती आकाश में कहीं भी जिनको ठिकाना नहीं है, मन जिनका डाँवाँडोल और परिणाम जिन के अस्थिर हैं, जिन्हें कहीं भी कोई सहारा नज़र नहीं आता है, निराशा के समुद्र में डुबकी लगाना ही एक मात्र जिन का कर्तव्य हो रहा है, क्या करें और क्या न करें, जिन्हें कुछ नहीं सूझता है, बिलकुल ही भोचक्कासा रहना पड़ रहा है, यह ज़िन्दगी किस तरह कटेगी और कब मृत्यु आवेगी यह ही चिन्ता जिनको आठ पहर लगी रहती है, अपनी मौत मनाना ही जिनको इन दुखों से छूटने का एक उपाय नज़र आता है, उनसे संयमधारण करने और अपने परिणामों को सिंभाले रखने की आशा करना तो आकाश के फूलों की आशा करने के समान असम्भव ही है। ऐसे महादुखिया मनुष्य जाति में बहुत हैं और विशेष कर हिन्दुस्तान की विधवाओं में तो बहुत सी ऐसी हैं जो इस प्रकार का दुख भोग रही हैं और जलते अंगारों पर लोट लोट कर अपना जीवन काट रही हैं। जिन्हों ने पति की चिता के साथ जलकर अपना जीवन समाप्त करना ही इस दुखसे छूटने का एक मात्र उपाय समझ रक्खा था और नित्य हज़ारों और लाखों की संख्यामें जलकर अपना जीवन समाप्त कर देती थीं और अब भी समाप्त करने को तय्यार हैं परन्तु सर्कार ने इस विषय में भारी रोक लगादी है इस कारण लाचार हैं और तड़प २ कर अपनी ज़िन्दगी बिताने के सिवाय और कुछ भी नहीं कर सक्ती हैं; ऐसे दुखी स्त्री पुरुष नारकियों के ही समान हैं जो कुछ भी अपने चारित्र

को नहीं संभाल सकते हैं, और आत्मोन्नति नहीं कर सकते हैं।

इसही प्रकार जो मनुष्य धन सम्पत्ति और अधिकार प्राप्त हैं वह देवों की तरह अपने विषय भोगों में मस्त अपने आमोद प्रमोद और विलासता में ऐसे रत होजाते हैं कि उन को भी संयम धारण करना; अपना वा पराये का कुछ उपकार करना, कषायों को वस में रखना और परिणामों को नियम बद्ध रखना कठिन हो जाता है। यहां तक कि महा हीन क्षीण वुड्ढाखूसट होने पर भी स्त्री भोग की लालसा नहीं जाती है और बेटों पोतों के होते हुए भी मौड़ बांधकर १३-१४ बरस की छोकरी मोल लेकर ब्याह लाने में ज़रा भी शरम नहीं आती है। जानता है कि मैं मृत्यु की दाढ़ में दबाया हुआ अपनी ज़िन्दगी की घड़ियां ही गिन रहा हूं। अब मरा और अब मरा, गर्दन हिल रही है और कमर टूट गई है, बाल सब सुफ़ैद होगये हैं, आँखों से सूझता नहीं, कानों से सुनता नहीं; मुँह से लार बह रही है और डगडग गर्दन हिल रही है, पैर रखता कहीं है और पड़ता कहीं है, लाठी का सहारा भी बेकार ही हो रहा है तौभी यह ही जोश उठता है कि यह धन बेकार छोड़कर क्यों जाऊँ, यदि घड़ी भर भी जिन्दा रहूं तो उस एक घड़ी को भी निस्सार क्यों छोड़ूं? जानि की एक सुन्दर कन्या क्यों न मोल लाऊँ जिसकी उठती जवानी हो और मेरी मृत्यु के समय रोते २ चूड़ियाँ फोड़ कर वह समय बांध देने वाली हो जो स्वर्गों के किसी देव के मरने पर उसको देवाङ्गनायें रो २ कर बांधती हैं। स्वर्ग देवों का एक देव कम से कम ३२ देवाङ्गनायें अपने पीछे रोने वाली छोड़ता है तो क्या मनुष्य जाति का सम्पत्तिशाली पुरुष एक भी देवाङ्गना अपने पीछे रोने के वास्ते न छोड़े। इस कारण चाहे जितना धन खर्च

करना पड़े और चाहे जो कुछ करना पड़े वह भी अपने मरने से पहिले एक नव यौवनी व्याह लाकर मरते समय रोने के लिये छोड़ ही जाता है। परन्तु स्वर्ग का देव तो पहिले देवों को त्यागी हुई विधवा देवाङ्गनाओं को अङ्गीकार करके अपनी ३२ स्त्रियों की गिनती पूरी करता है और मरते समय जिनको विधवा बनाकर छोड़ जाता है उनको अन्य देव अपनी स्त्री बना लेते हैं, देवों की किसी भी विधवा को रंडापे का दुख नहीं भोगना पड़ता है। परन्तु यहां मनुष्य लोक में और विशेष कर इस पुण्य भूमि हिन्दुस्तान में और हिन्दुस्तान में भी खास कर दया धर्म के माननेवाले हिन्दुओं ओर जैनियों की ऊंची जातियों में विधवाओं को जन्मभर का रंडापा काटना पड़ता है। इसलिये धर्मात्मा जैनियों में तो बुड्ढे बाबा को अपने मरने के समय एक नवयौवना कुमारी कन्या विवाह कर जन्म भर को रँडापे की अग्नि में झुलसते रहने के लिये छोड़ जाना भी अपने धन वैभव की चमक दिखाने के लिये काफी है। इस प्रकार जब हमारे वैभवशाली धनाढ्य लोग मरते समय की एक पलभर की विषयवासना के वास्ते एक कुमारी को विवाह कर उसका जीवन नष्ट करने में ज़रा भी नहीं हिचकते हैं बल्कि ऐसा भयङ्कर नीच कृत्य करने में ही अपनी बड़ाई समझते हैं तो उनसे किसी भी प्रकार का संयम धारण करने की क्या आशा की जा सकती है। इस ही प्रकार दया धर्म के मानने वाले ऊँची जाति के निर्धन जब अपने जिगर से पैदा की हुई और पेट में पाली हुई कन्या को धन के लालच में ऐसे बुड्ढों के हाथ बेचने में, विधवा बनने के लिये उनके साथ व्याहने में जरा भी नहीं हिचकते हैं तो जिस प्रकार नारकी और स्वर्ग के देव संयम नहीं पाल सकते हैं ऐसा ही मनुष्यों में भी गरीबों और धन-

वानों के वास्ते संयम का होना कठिन समझा जाय तो अनु-चित नहीं हो सकता है और यह मानना ही उचित होता है कि जिस प्रकार नरक स्वर्ग मनुष्य और तिर्यंचरूपी चार गतियों में मनुष्य की मध्यम अवस्था है और वह ही संयम पालन करने और अपना तथा पराया उद्धार करने के योग्य शास्त्र में बताया गया है। इस ही प्रकार मनुष्यों में भी यह ही मानना चाहिये कि अत्यन्त दुखियाओं और बड़े २ धनाढ्यों को छोड़कर मध्यस्थ अवस्था के मनुष्य ही व्रत संयम पाल सकते हैं और अपना पराया उद्धार कर सकते हैं। अलबत्ता यदि दुखिया दुखिया न रहें और धन सम्पत्ति वाले अपनी सम्पत्ति को छोड़ दें तो वह भी सब कुछ धर्म कर सकते हैं। परन्तु अब तो कुछ अद्भुत ही चाल हो रही है अर्थात् परम दुखिया विधवायें तो व्रत संयम पालने के योग्य समझी जाती हैं। नवयौवना विधवाओं से भी उमर भर के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत पालने की आशा की जाती है। जाति के नियम के द्वारा उनको यह कठिन तपस्या ग्रहण कराई जाती है और धन सम्पत्ति वाले पुरुषों का बुड्ढा हो जाने पर भी बिना स्त्री के रहना असम्भव समझ कर उनके दो दिन के सुख के वास्ते जाति को एक कन्या की ज़िन्दगी बर्बाद करना ही ज़रूरी समझा जा रहा है। शास्त्र में स्त्री और पुरुष के लक्षण इस प्रकार वर्णन किए गए हैं :—

पुरु गुण भोगे सेदे करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।
पुरुउत्तमो य जम्हा तम्हा सो विण्णिओ पुरिसो॥

अर्थात् जो उत्कृष्ट गुणों का स्वामी हो और लोक में उत्तम गुण युक्त कर्म करता हो और स्वयं उत्तम हो। भावार्थ जो स्वयं गुणवान हो, उत्तम हो, और अपने गुणों द्वारा उत्तम

ही कर्म करता हो उसको पुरुष कहते हैं। स्त्री का लक्षण है कि

छाद यदि सर्व दोसे णयदो छाददि पर वि दोसेण।
छादण सीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी॥

अर्थात् जो अनेक प्रकार के दोषों से अपने को आच्छादित करदे, दोषों से ही लदजावे और दूसरों को भी दोषों से भर देवे अर्थात् जो आप भी पापों में डूबी रहे और दूसरों को भी अर्थात् पुरुषों को भी पाप में डुबाये उसको स्त्री कहते हैं।

शास्त्र के इस लक्षण से तो पुरुषों को ही अधिकतर धर्म में लगना चाहिये, दिगम्बर आम्नाय के अनुसार वहही मुक्ति पासकते हैं, स्त्री बेचारी तो अपनी महा निर्बलता और दोषों के कारण इतना तपश्चरण और आत्म-निग्रह ही नहीं कर सकती है, इतना संयम ही नहीं पाल सकती है कि उसको मुक्ति हो जावे, उसकी तो काम वेदना भी पुरुषों से अधिक होती है इस कारण पुरुष के वास्ते ब्रह्मचर्य का पालन करना जितना आसान है उतना स्त्री के वास्ते नहीं है, परन्तु आजकल की प्रवृत्ति में. हिन्दुस्तान की उच्च जातियों ने पुरुषों को ऐसी स्वच्छन्दता देदी है कि मानो उनके वास्ते कोई दोष दोष ही नहीं है, वह पञ्चायत जोड़कर वेश्यायें नचाते हैं, कोई २ वेश्या गामी भी होते है, कोई २ पर स्त्री सेवन भी करते हैं, खास भी रखते हैं, मरते २ भी व्याह कराते हैं और इस प्रकार बेचारी निर्दोष कन्याओं को रांड बनाते हैं। अन्य प्रकार भी जो चाहें करें तो भी दोषी नहीं होते हैं। परन्तु स्त्रियों से पूर्ण शीलवान रहने की आशा की जाती है और यदि वह आंख उठाकर भी किसी की तरफ देखलें तो गर्दन मारने लायक समझी जाती हैं। यदि कोई स्त्री कुशील दोष में पकड़ी जावे तो स्त्री तो घर से निकालदी जाती हैं और जाति से भी पतित होकर मुंह

दिखाने योग्य नहीं रहती हैं परन्तु कुशील करनेवाला पुरुष कुछ अधिक दोषी नहीं समझा जाता है और न कोई किसी प्रकार का दण्ड ही पाता है। अभिप्राय हमारा इस सारे कथन का यह है कि पुरुषों को तो स्त्रियों से भी अधिक निर्दोष और संयमी होना चाहिये, विशेष कर शील में तो उनको स्त्रियों को अपेक्षा बहुत ही ज़्यादा योग्यता दिखानी चाहिये तबही उनका पुरुषत्व है नहीं तो यह ही मानना चाहिये कि वह पुरुष है न स्त्री किन्तु नपुंसक हैं जो स्त्रियों से भी ज़्यादा कामवेदना के वशीभूत होते हैं, जैसा कि शास्त्र में लिखा है कि नपुंसक (हिजड़े) को ईंटों को पकाने वाली भट्टीअर्थात् पजावे की अग्नि के समान तीव्र कामवेदना रहती है, इस कारण उसका चित्त तो प्रत्येक समय ही कलुषित रहता है।

णेवित्थी णेव पुमं ण उंसओ उहयलिङ्ग विदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाण गवेदण गरुओं कलुसचित्तो ॥

यदि आजकल के पुरुष स्त्रियों से अधिक संयम नहीं कर सकते हैं, अपनी कामवेदना को स्त्रियों से अधिक क़ाबू में नहीं रख सक्ते हैं, बहुत कमज़ोर होगये हैं, कामसे पराजित होकर लाचार हो रहे हैं तो कम से कम स्त्रियों के बराबर तो उनको अपने आचरण रखने चाहियें, उनसे भी बहुत नीचे गिरकर अपने पुरुषपने को बिलकुल ही तो न लजाना चाहिये ! यह पुरुषदेह बड़े भारी पुन्योदयसे प्राप्त होती है। इसको इस तरह नष्ट भ्रष्ट करने से तो अपना ही नुकसान है। इस समय की उद्दता से आगे को नहीं मालूम क्या पर्याय मिले और क्या २ दुःख उठाने पड़ें, । सम्भव है कि स्त्रीपर्याय पाकर और किसी उच्च जाति में जन्म लेकर किसी बुड्ढे के हाथ बिक

और जल्दी ही विधवा होकर जन्म भर रंडापे के दुःख भोगने पड़ें और फिर आगे को भी न मालूम किस २ पर्याय में और किस किस अवस्था में रुलते फिरना पड़े। यह मनुष्य जन्म और मनुष्यों में भी पुरुष पर्याय तो बहुत ही ज़्यादा पुण्य के उदय से मिलती है और मनुष्यों की इस पुरुषपर्याय के द्वारा ही जीव के कल्याण का सब उद्यम बन सका है। इस पुरुष पर्यायरूपी चिन्तामणि रत्न को स्वच्छंद छोड़कर इस प्रकार कलंकित करना और स्त्री पर्याय से भी अधिक कमज़ोर और निर्बल सिद्ध करके विषय कषायों में फंसाये रखना तो अत्यंत ही मूर्खताकी बात है। आजकल हिन्दुस्तान के लोग इस बात के कहने में बड़ा भारी अभिमान किया करते हैं कि स्त्री और पुरुष बराबर नहीं होसक्ते हैं। बेशक यह उनका कहना ठीक है और शास्त्र भी ऐसा ही कहता है, परन्तु अभिमान करनेके योग्य तो पुरुष तब ही होसक्ता है जब वह स्त्रियों से अधिक व्रत संयम करके अपना पुरुषपना दिखावे, स्त्रियों से भी अधिक विषय भोगों के वश होने से तो वे अपने को स्त्रियों से भी घटिया सिद्ध करते हैं और नपुंसक बनकर तिरस्कार के योग्य होते हैं तब अभिमान किस बात का करते हैं। स्त्री जिसको शास्त्रमें दोषों का स्थान लिखा है वह तो बाल-विधवा होकर भी जन्म भर ब्रह्मचारिणी रहसके और पुरुष जिसको शास्त्रमें गुणों का स्थान लिखा है वह बुड्ढे होकर भी मृत्यु के निकट पहुंच कर भी बिना स्त्री के न रहसकें और एक छोटी सी छोकरी ब्याह लानेमें कुछ भी लज्जा न मानें। यह अभिमान की बात है वा महा लज्जा की। उचित तो यह था कि पुरुष अपने वास्ते तो पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना कुछभी मुश्किल न समझते और शीलसंयम से रहना तो प्रत्येक पुरुष के वास्ते

वहुत ज़रूरी ही होता और अपनी स्त्री के मरजाने पर फिर दुबारा विवाह कराने का तो नाम तक न लेते और स्त्री की पर्याय पुरुषों से घटिया और दूषित समझी जाने के कारण उससे अपनी वरावर शीलसंयम से रहने और पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने की आशा न करते तब ही पुरुष और स्त्री पर्यायमें भेद वताकर अभिमान करते। परन्तु अवतो पुरुषोंने अपनी उलटी ही दशा बना रक्खी है इस कारण अब तो उनको अभिमान करने की जगह स्त्रियों से लज्जित होकर अपनी दशा सुधारने की ही कोशिश करना चाहिये, अपने में पुरुषों के गुण दिखा-कर अपने को इस वात के कहने के योग्य वनाना चाहिये कि पुरुषों और स्त्रियों में वहुत अन्तर है। स्त्रियां पुरुषों की वरा वरी नहीं कर सकती हैं। असल वात यह है कि अनादिकाल से कर्मों ने जीवको वुरी तरह चक्कर में डाल रक्खा है जिस से वह अपनी असलियत को न पहचान कर झूठे अभिमान में मारा २ फिरता है उलटे उलटे काम करके अपने को बांधता है और अपने कल्याण का कुछ भी उपाय नहीं करता है।

पूर्वं कर्मोद माद्भावो भावान्प्रत्यग्र संचयः।
तस्यपाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः॥
एवं सन्तानतो ऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः।
संसारः स चदुर्मोच्यो विना सम्यग्दगादिना॥

अर्थात्—पहिले वंधेहुए कर्मों के उदय से रागद्वेष आदि भाव पैदा होते हैं फिर उनही रागद्वेषादि भावोंसे नवीन कर्म पैदा होजाते हैं, फिर इसही प्रकार उन कर्मों के उदय होने पर रागद्वेष भाव होते हैं और रागद्वेष से वंधते हैं, इसही प्रकारका चक्र अनादिकाल से चला आता है, इसही का नाम ... है। यह संसाररूपी चक्र विना सम्यग्दर्शन के किसी प्रकार

भी नहीं छूट सकता है। कर्म आठ प्रकार के हैं, दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। जबतक किसी वस्तु का कुछ भी रूप रङ्ग नहीं मालूम होता है, न यह पहचान होती है कि वह क्या वस्तु है, केवल इतना ही मालूम होता है कि कुछ है, इससे ज्यादा कुछ भी मालूम नहीं होता है तब तक वह ज्ञान नहीं माना जाता है किंतु दर्शन कहलाता है, और जब जरा भी रूप रङ्ग आदि मालूम होने लग जाता है तब वह ज्ञान कहालने लगता है। इस ही कारण जो कर्म जीव के दर्शन गुण को ढकता है वह दर्शनावरण है और जो ज्ञान को ढकता है अर्थात् ज्ञान नहीं होने देता है वह ज्ञानावरण है। जो जीव को मोहे अर्थात् नशा पीने के समान अचेत करदे, सुध बुध भुला कर उलटे २ काम कराने लगे वह मोहनीय है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं, एक दर्शन-मोहनीय जो जीव का श्रद्धान विगाड़ कर अपनी असलियत को नहीं पहिचानने देता है, दूसरा चारित्र मोहनीय जो राग द्वेष अर्थात् मान माया लोभ क्रोध यह चार प्रकार की जो कषाय और रति अर्थात् प्रीति, अरति अर्थात् अप्रीति, शोक अर्थात् रञ्ज, हास्य अर्थात् हँसी, भय अर्थात् डर, जुगुप्सा अर्थात् ग्लानि और पुरुष वेद अर्थात् स्त्री से भोग करने की इच्छा और स्त्री-वेद अर्थात् पुरुष से भोग करने की इच्छा और नपुँसक-वेद अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों से भोग करने की इच्छा. यह नौ प्रकार की नो कषाय पैदा करके जीव को संसार के मोह में फँसाता है। अन्तराय कर्म जीव की शक्ति को प्रकट नहीं होने देता है, रोक पैदा कर देता है। आयु कर्म जीव को एक पर्याय में बाँधे रखता है। नाम कर्म शरीर और उसकी तरह २ की शकलें बनाता है। गोत्र कर्म जीव को संसार में

ऊँच या नीच दर्जे का अर्थात् घटिया या बढ़िया बनाता है। वेदनीय कर्म सुख दुख का अनुभव कराता है। इस प्रकार यह आठों कर्म जीव को संसार में ही रुलाते हैं। इस विषय में सब से पहिले यह जानने की जरूरत है कि कैसे २ कृत्यों और कैसे २ परिणामों से किस २ कर्म का बन्ध होता है जिस से मनुष्य अपने को सिंभाल कर खोटे कर्मों के बन्धन से बच सके।

पडिणी गमन्तराए उवधादो तप्पदोस णिण्हवणे।

आवरण दुगं भूयो बन्धदि अच्चासणा एवि॥

अर्थात् शास्त्र और शास्त्र के जानने वालोंकी क़दर न करने से, ज्ञान के प्रचार में किसी प्रकार की रोक टोक पैदा करदेने से; ज्ञान की बातों में दोष लगा देने से, उनको खण्डन करने की कोशिश करने से वा ज्ञानियों वा ज्ञान का प्रचार करने वालों को किसी प्रकार की तकलीफ देने से, ज्ञान के प्रचार में हर्ष न मानने से वा ज्ञान के प्रचार को बुरा मानने से, ऐसी बातों से द्वेष भाव रखने से, अपने ज्ञान को प्रगट करने से, जितना आप जानता है वह दूसरों को न बताने से वा उलटा सुलटा बतला बतला कर बिचला देने से, किसी के सच्चे उपदेश वा धर्म की प्रशंसा न करने से वा किसी न किसी तरह उसका उपदेश न होने देने से दर्शनावरण और ज्ञानावरण कर्म बहुत ज्यादा बँधता है, बहुत तीव्र होता है और बहुत काल तक ठहरता है। वनस्पति काय आदि जीव जो इतना सूक्ष्म ज्ञान रखते हैं कि कोई २ मत वाले तो उनको जीवन मानकर बिलकुल निर्जीव ही मानते हैं। उन में इतनी ज्ञान की मन्दता उपरोक्त प्रकार ज्ञान के प्रचार में रोड़ा अटकाने से ही ज्ञानावर्णी और दर्शनावरणी कर्म का

तीव्र पटलरूप महापाप के आने से ही ज्ञान में ऐसी मन्दता आती है और एकेन्द्रिय आदि पर्याय प्राप्त होती है। तब ऐसे महान पाप और अज्ञानान्धकार से बचने के लिये जरूरी है कि जहांतक हो सके ज्ञान को फैलाने की ही कोशिश की जावे, पाठशालायें बिठायी जावें, शास्त्र बांटे जावें, व्याख्यान दिये जावें, पुस्तकालय और वाचनालय खोले जावें। अन्यभी जिस प्रकार हो सके ज्ञान का प्रचार किया जावे जिससे लोगोंका अज्ञानान्धकार दूर हो और अपने को पुण्य की प्राप्ति हो। पापकर्म भी पुण्य में प्रवृत्त होकर पुण्य का ही विस्तार हो।

अरहन्त सिद्ध चेदिय तव सद्गुरु धम्म सङ्घ पडिणी गो।
बन्धदि दंसण मोहं अणंत संसारिओ जेण ॥

अर्थात् जो कोई अरहन्तों वा सिद्धों की प्रतिमा में, तप में, शास्त्र में, गुरु में, धर्म में और धर्म-धारियों से प्रीति न करता हो, उसके विरुद्ध श्रद्धान रखता हो, वह दर्शन-मोहनीय कर्म का बन्ध करता है और अनन्त संसार में भटकता है। इस कारण सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये श्री आप्त भगवान और कहे हुए शास्त्र तथा उनके बताये धर्म पर चलने वाले धर्मात्माओं से प्रीति रखना ज़रूरी है।

तव्वकसाओ बहु मोह परिणदो राग दोस सन्तत्तो ।
बन्धदि चरित्त मोहं दुविहंपि चरित्त गुणघादी ॥

अर्थात् जिसकी कषाय तीव्र हो, जिसके अधिक राग रूपी परिणाम हों अर्थात् संसार से जिसको अधिक मोह हो, जो राग द्वेष में पूरी तरह मग्न हो रहा हो, और व्रत संयम रूपी चारित्र भ्रष्ट करने का जिसका स्वभाव हो, वह कषाय और नो कषाय रूप चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध करके संसार में रुलता है और दुःख उठाता है।

पाणवधादीसु रदो जिणपूजामोक्खमग्गविग्घयरो
अज्जेइ अंतरायं ण लहइजं इच्छियं जेण ॥

अर्थात् जो अपनी और दूसरों की हिंसा करने में, और दुःख देने में लीन हो और श्री वीतराग रूप जिन भगवान को पूजा और मोक्षमार्ग में विघ्न डालने वाला हो वह अन्तराय कर्म बांधता है जिसके उदय से वाञ्छित वस्तु की प्राप्ति में रोक पड़जाती है।

मिच्छो हुमहारंभो णिस्सीलो तिव्वलोह संजुत्तो ।
णिरया उगं णिवंधइ पाव मई रुद्दपरिणामी ॥

अर्थात्–जो मिथ्यादृष्टि हो, वहुत आरम्भी हो, शील रहित हो, अधिक लोभी हो, रौद्र परिणामी हो, पाप कार्य करने का शौकीन हो, वह नरक की आयु बांधता है। इस से साफ स्पष्ट है कि जो नरक में जाने से डरता हो उसको सम्यग्दृष्टि होने की पूर्ण कोशिश करनी चाहिये। अधिक आरम्भ में नहीं फसना चाहिये। आजकल जो लोग विवाह आदि कार्यों में अपनी हैसियत से भी ज्यादा आरम्भ करके इस जन्म में भी नरकों जैसे दुःख उठाते हैं वह अपनी महान चिन्ताओं के कारण अवश्य ही नरक में जाने के काम करते हैं। शील रहित होना भी नरक में जाने का कारण है। परन्तु कैसे आश्चर्य की वात है कि हिन्दुस्तान के लोग स्त्रियों के वास्ते ही शीलवान होना जरूरी समझते हैं, पुरुषों के वास्ते नहीं। पुरुष रण्डियां नचावें और अन्य भी चाहे जिस प्रकार कुशील करें तो भी वह दोषी नहीं समझे जाते हैं जिससे उन को नरक में जाने की तैयारी करने के वास्ते खुली छुट्टी मिल गई है। इस ही प्रकार अधिक लोभ होना और क्रूर परिणामी होना भी नरक में जाने की तैयारी करना है। परन्तु जो लोग अपनी प्यारी कन्याओं को ४०—४५ बरस के बूढों के हाथ

बेचकर उनका जीवन नष्ट करते हैं और जो बूढ़े अपने दो दिन की विषयवासना के वास्ते एक कन्या की जिन्दगी वर्बाद करते हैं, क्या उनके नरक जाने में कुछ सन्देह हो सकता है? और जो बिरादरी के लोग ऐसे विवाहों में शामिल होते हैं वह भी अनर्थदण्ड में फँस कर क्या नरक में जाने से बच सकते हैं? भाइयों सँभलो, और सागरों पर्यन्त नरकों में पड़े सड़ने से बचो।

उम्मग्गदेसगो मग्गणासगो गूढहियय भाइल्लो।
सठसीलोय स सल्लो तिरियाउं बंधदे जीवो॥

अर्थात्—जो उलटे मार्ग का उपदेश देवे, उत्तम मार्ग का निषेध करे, मायाचारी हो, मूर्ख हो, शल्यवान हो वह तिर्यंच आयु का बन्ध बांधता है।

पयडीए तणुकसाओ दाणरदी सीलसंजम विहीणो,।
मज्झिम गुणेहिंजुत्तो मणवाऊं बंधदे जीवो॥

अर्थात्—जो मन्दकषाय वाला हो, दान देने में प्रीति रखता हो, असंयमी हो, मध्यम गुण वाला हो; वह मनुष्य-आयु का बन्ध बांधता है।

अणुवद महव्वदेहिं य वालतवाकामणिज्जाराए य।
देवाउगं णिबंधइ सम्मा इट्ठी यजो जीवो॥

अर्थात्—जो सम्यग्दृष्टि हो वा अणुव्रती हो वा अज्ञानरूप से भी तप करनेवाला हो वह देवायु का बन्ध बांधता है।

भूदाणु कंप वद जोग जुंजिदो खंतिदाण गुरुभत्तो।
बंधदिभूयो ...सादं विवरीयो बंधदे इदरं॥

अर्थात्—जो सर्व प्राणियों पर दया करने वाला हो, अहिंसादि व्रतोंका पालनेवाला हो, शान्तिवान हो, दानी हो, गुरुओं की भक्ति करनेवाला हो वह सातावेदनी कर्म का बंध करता

है अर्थात् सुख पाता है और जो इसके विपरीत करता है वह असाता वेदनी कर्म का बन्ध करता है अर्थात् दुख पाता है; जो लोग अपनी प्यारी कन्याओं पर भी दया नहीं करते हैं उन को अयोग्यवरके साथ व्याह देते हैं वा उनका मरना मनाते हैं, योग्यरीति से उनकी रक्षा शिक्षा नहीं करते हैं, और विशेष कर जो उनको बुड्ढों से व्याह देते हैं और वह बुड्ढे जो अपनी बेटी पोती के बराबर कन्याओं को व्याह कर लाते है और जाति के वह पंच जो कन्याओं पर इस प्रकार के जुल्मों को नहीं रोकते हैं किन्तु ऐसे कारजों में भी शामिल होते हैं जो किसी के यहां मौत होजाने पर निर्दय होकर उसके यहां मुक्तें की रसोई जीमते हैं वह किसी प्रकार भी सर्व प्राणियों पर दया करने वाले नहीं हो सकते हैं। इस कारण असाता-वेदनी का बंध करके दुःख ही भोगते हैं।

मणवयण काय वक्को माइल्लो गारवेहिं पडिवद्धो।
असुहं बंधदिणामं तप्पडिवक्खे हिसुहणामं ॥

जो कुटल हो मायाचारी हो कपटी हो और अपनी ही प्रशंसा चाहने वालाहो वह अशुभ नाम कर्म का वन्ध करता है अर्थात् खोटी पर्याय पाता है और जो सरल परिणामी है, सीधा सच्चा है, अपनी प्रशंसा नहीं चाहता है, वह शुभ नामकर्म का वन्ध बाँधता है।

अरहंतादिसु भत्तो सुत्त रुची पढणुमाण गुण पेही।
बंधदि उच्चागोदं विवरीओ बंधदे इदरं ॥

अर्थात्-जो अर्हन्तों की भक्ति करने वाला हो, शास्त्रमें रुचि रखता हो, पढ़ने पढ़ाने और विचार करने का शौकीन हो वह ऊँचे गोत्र का वन्ध बांधता है अर्थात् प्रतिष्ठा योग्य पर्याय पाता है और जो इसके विपरीत करता है वही नीचगोत्र का

वन्ध बांधता है। अतः अगले जन्म में उच्चकुल में जन्म लेने के लिये शास्त्र का अभ्यास रखने की ज़रूरत है, नहीं तो नीच कुलमें ही जन्म लेना पड़ेगा।

कपाय के द्वारा क्रिया करने से ही कर्म-वन्ध होता है और कपाय सहित क्रिया को लेश्या कहते हैं।

लिंपई अप्पी कीरइ एदीए णिय अ पुण्ण पुण्णं च।

जीवोत्ति होदिलेस्सा लेस्सा गुण जाणयक्खादा॥

अर्थात्-लेश्या के गुण को जानने वाले ऐसा कहते हैं कि जिसके द्वारा जीव अपने को पाप पुण्य में लिप्त करता है वह लेश्या है भावार्थ इसही से पाप पुण्य रूप कर्मों का वन्धहोता है।

तिव्वतमा तिव्वतरा तिव्वा असुहा सुहातहा मन्दा।

मंदतरा मन्दतमा छट्ठाणगया हु पत्तेयं॥

अर्थात्-तीव्रतम तीव्रतर और तीव्रकपाय से अशुभ लेश्या होती है, और मन्द, मन्दतर और मन्दतम कपाय से शुभ-लेश्या होती है। भावार्थ यह कि अशुभ लेश्याओं से पाप होता है और शुभ लेश्याओं से पुण्य। उत्तम मध्यम जघन्य अर्थात् वहुत वढ़िया, दर्मयाना और घटिया इस प्रकार तीन तीन दर्जे पाप पुण्य के किये जावें तो सवसे तेज कपाय के द्वारा कार्य करने से सवसे वढ़िया पाप होता है इसको कृष्ण लेश्या कहते हैं। कुछ कम तेज़ कपाय से मध्य दर्जे का पाप होता है इसको नील लेश्या कहते हैं। मामूली तेज़ कपाय से घटिया हलके दर्जे का पाप होता है जिसको कापोत लेश्या कहते हैं। मन्द कपाय से पुण्य होता है। मामूली मंद कपाय से हलके दर्जे का पुण्य होता है इसको पीतलेश्या कहते हैं। दर्मयाने दर्जे की मन्द कपाय से दर्मयाने दर्जे का पुण्य होता है, इस को पद्मलेश्या

कहते हैं। बहुत ही मन्द कषाय से बहुत ज्यादा पुण्य-बन्ध होता है इसको शुक्ल लेश्या कहते हैं। इस प्रकार कृष्ण नील कापोत यह तीन अशुभ लेश्या हैं और पीत पद्म शुक्ल यह तीन शुभलेश्या हैं। सबसे अधिक मन्द कषाय से शुक्ल लेश्या होती है फिर ज्यों ज्यों कषाय बढ़ती जाती हैं, त्यों त्यों पद्म पीत कापोत नील और कृष्णरूप लेश्या बढ़ती जाती है। कृष्ण लेश्या सबसे अधिक कषायसे अर्थात् बहुत ही ज्यादा संक्लेश परिणामों से होती है। इन लेश्याओं को समझाने के वास्ते शास्त्रों में इस प्रकारका दृष्टान्त दिया है कि छः मनुष्योंने जंगल में एक फल का वृक्ष देखा, उनमें कृष्ण लेश्या वाला तो फल खाने के लिये यह चाहता है कि इस वृक्ष को जड़से ही उखाड़ गिराऊँ, नील लेश्यावाला फल खाने के लिए इस वृक्ष का बड़ा तन्ना काट डालना चाहता है, कापोत लेश्या वाला इसकी बड़ी बड़ी शाखा काटने को तय्यार होता है, पीतलेश्या वाला छोटी २ शाखा तोड़कर ही फल खाना काफी समझता है, पद्म लेश्यावाला केवल फल तोड़ कर ही अपना पेट भर लेना चाहता है, और शुक्ल लेश्यावाला उन फलों पर ही संतोष करता है जो आप ही वृक्ष से गिर पड़ें। यह ही बात संसार के प्रत्येक कार्यों में लगालेनी चाहिये। अब हम प्रत्येक लेश्यावाले के बाह्य चिन्ह लिखते हैं जिससे यह पहिचान हो सके कि कौन पापी है और कौन पुण्यवान और पाप पुण्य में भी कौन किस दर्जे में है।

चण्डो ण मुचइ वैरं भंडणसीलो य धम्म दय रहिओ।
दुट्ठोणय एदि वसं लक्खण मेयंतु किरा हस्स ॥

अर्थात्–जो बहुत क्रोधी हो, वैर को न छोड़े, लड़ने का

जिसका स्वभाव हो, धर्म से और दयासे रहित हो और किसी के भी बस में न हो सकता हो वह कृष्ण लेश्यावाला है।

मन्दो बुद्धि विहीणो णिव्विराणाणी य विसय लोयलोय।
माणी मायी यतहा आलस्सो चेव भेज्जो य॥
णिद्दावंचण बहुलो धणधण्णो होदितिव्व सराणा य।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णील लेस्स स्स॥

अर्थात्—जो सुस्त हो, बुद्धि हीन हो, कला चातुर्य रहित हो, इन्द्रियों के विषय का लोलुपी हो, मानी हो, मायाचारी हो, आलसी हो, जिसके हृदय के भेद को कोई न जान सके, बहुत सोनेवाला हो, दूसरोंको ठगनेमें बहुत होशयार हो, धन सम्पत्तिमें जिसको अधिक लालसा हो, वह नील लेश्यावालाहै।

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय भय बहुलो।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो॥
णय पत्तियइ परं सो अप्पाणं यिव परंपि मराणंतो।
थूसइ अभित्थुवंतो णय जाणइ हाणि वड्ढिं वा॥
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं विथुव्व माणोहु।
ण गणाइ कज्जा कज्जं लक्खणमेयंतु का उस्स॥

अर्थात्—रूसनेवाला अर्थात् नाराज़ होजाने वाला, निन्दा करनेवाला, दुःख देनेवाला, बहुत शोक करने वाला, बहुत डरपोक, दूसरे के ऐश्वर्य को न सहने वाला, दूसरों का तिरस्कार करनेवाला, अपनी बहुत प्रशंसा करनेवाला, दूसरों पर विश्वास न करनेवाला, अपने समान दूसरों को माननेवाला, अपनी बड़ाई सुनकर खुश होनेवाला, अपनी भलाई बुराई न समझने वाला; रण में मरने की इच्छा करनेवाला, अपनी बड़ाई करनेवाले को बहुत कुछ दे देनेवाला; अपने कारज अकारज को कुछ न गिननेवाला कापोतलेश्या का धारी है। इस प्रकार बहुत अधिक पापी, मध्यम पापी और कमतर पापी

अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले का वर्णन किया, अब कमतर पुण्यवान, मध्यमपुण्यवान और अधिक पुण्यवान अर्थात् पीत पद्म और शुक्ल लेश्यावाले का वर्णन करते हैं ”

जाणइ कज्जा कज्जं सेयमसेयंच सव्वसमपासी ।
दयदाणरदोय मिदू लक्खण मेयंतु ते उस्स ॥

अर्थात्—जो करने योग्य, न करने योग्य, भोगने योग्य और न भोगने योग्य को जाननेवाला हो, सबको एक आंख से देखनेवाला हो अर्थात् पक्षपात रहित होकर सबको समान समझता हो, दया और दान में तत्पर हो अर्थात् दूसरों का उपकार करने की जिसको लग्न हो और कोमल परिणामी हो वह पीत लेश्यावाला है, अर्थात् पुण्यबन्ध करनेवाले को कम से कम ऐसा ज़रूर होना चाहिये ।

चागी भद्दो चोक्खो उज्जवकम्मोय इमदि वहुगम्पि ।
साहु गुरु पूजन रदो लक्खण मेयंतु पम्मस्स ॥

अर्थात्-दान करने वाला, भद्र परिणामी, उत्तम उत्तम कार्य करनेवाला, सहनशील, क्षमावान, साधु और गुरु की पूजा करने में प्रीतिवान पद्मलेश्या वाला होता है ।

ण य कुणइ पक्खवायं णदि य णिदाणं समो य सव्वेसिं ।
णत्थिय रायदोसा णेहोविय सुक्कलेस्सस्स ॥

अर्थात् पक्षपात न करने वाला, सब को समान समझने वाला, राग द्वेष न रखने वाला, स्नेह न रखने वाला शुक्ल-लेश्या का धारी है ।

इस सारे कथन से और समस्त जैन शास्त्रों के मनन करने से यह ही सिद्ध होता है कि पाप पुण्य बुरे भले परिणामों से ही होताहै । अधिक तेज कषायको बुरा परिणाम और हलकी कषाय को ही भला परिणाम कहते हैं । इन ही कषायों

से राग द्वेष और विषय भोगों की वाञ्छा पैदा होती है। इस कारण राग द्वेष और विषयवासनाओं में अधिक फँसने से, अधिक चिन्ता करने से, अधिक क्लेषित होने से और हृदय में अधिक अशान्ति लाने से पाप बन्ध होता है और राग द्वेष और विषय भोगों में कम फँसने से, अधिक चिन्ता न करने से और हृदयमें शान्ति रखने से, संसारमें अधिक लिप्त न होने से पुण्य बन्ध होता है। परन्तु आज तो कुछ उलटी ही गङ्गा बहने लग लग गई है अर्थात् कषायों को दबाने, विषयवासनाओं को कम करने, हृदय में शान्ति रखने और संसार में अधिक न फँसने की तरफ तो कुछ भी ध्यान नहीं रहा है। किन्तु रसोई की छूत छात को ही एक मात्र धर्म मानने का एक नवीन सिद्धान्त घड़ लिया है। घड़ नहीं लिया है किन्तु अपने हिन्दू भाइयों से सीख लिया है। उन ही का अनुकरण करना अपना कर्तव्य समझ लिया है। इस ही कारण जिस देश में हिन्दू लोग जिस रीति से छूत छात मानते हैं, उस देश के रहने वाले जैनी भी उस ही रीति से छूत छात मानते हैं और इस ही को परम धर्म समझते हैं। इस ही वास्ते भिन्न २ देशों का भिन्न धर्म हो गया है और हर कोई अपने २ देश की रीति को ही धर्म समझता है। फल इस का यह हुआ है कि महा खोटे २ व्यसनों का सेवन करने वाला व्यभिचारी और वेश्यागामी, झूठ बोलने वाला और चोरी करने वाला, मक्कार, फ़रेबी, दग़ाबाज़, महा क्रोधी, लोगोंको सताने वाला, महा जालिम और अन्यायी, महा लोभी महा परिग्रही और महा आरम्भी तो अधर्मी और पापी नहीं गिना जाता है और न ऐसी बातों की तरफ कुछ विशेष ध्यान ही दिया जाता है। किन्तु इन बातों को तो मामूली समझ कर इन से कुछ धर्म

का सम्बन्ध ही नहीं गिना जाता है, किन्तु एक मात्र रसोई आदिक कीछूत छात को ही धर्म माना जाता है उन ही में कमी आने से धर्म कर्म का भ्रष्ट होना समझा जाता है, और वह रसोई की छूत छात के नियम भी ऐसे अद्भुत हैं जिनका कोई सिद्धान्त ही नहीं बन सकता है। हिन्दू ब्राह्मणों में अनेक जाति के ब्राह्मण मांस खाना अधर्म नहीं समझते हैं और विशेषकर मच्छीका मांसतो बहुतही उत्तम समझते हैं। परन्तु रसोई की इतनी भारी छूत छात करते हैं कि यदि कोई उनसे दूसरी जाति का ब्राह्मण उनकी रसोई कीभूमि को भी अपनी अँगुली से छूदे तो उस रसोई में दूर स्थान पर रक्खा हुआ भोजन भी भ्रष्ट हुआ समझते हैं और यदि कोई ऐसी रसोई खाले तो वह तो ऐसा अधर्मी और पापी समझा जाता है कि जाति में ही रहने लायक नहीं होता है। यह ब्राह्मण लोग रसोई को तो इतनी छूत करते हैं परन्तु पानी अनेक जाति के शूद्रों तक के हाथ का भी पी लेते हैं। पानी में तो यदि वह शूद्र अपना हाथ भी डबोदे तो भी पी लिया जाता है और कुछ अधर्म नहीं समझा जाता है परन्तु रसोई की भूमि को भी छू देने से दूर रक्खा हुआ भोजन खाने योग्य नहीं रहता है। इस ही प्रकार जैनी भी पानी तो शूद्र के हाथ का भी पी लेते हैं परन्तु रसोई की भूमि को भी छू देने से सारी रसोई को भ्रष्ट हुआ जान लेते हैं और इस ही को महाधर्म मानते हैं। विवाह भी हिन्दुओं की तरह अपनी ही अपनी जाति में होना धर्म समझते हैं यहांतक कि एक जैनी अपनी ही जाति के अजैन से तो विवाह सम्बन्ध कर लेगा परन्तु अपने ही समान किसी दूसरी जाति के जैनी से विवाह सम्बन्ध नहीं करेगा। कोई करे तो महा अधर्म समझा जाता है और वह जाति से

बाहर कर दिया जाता है। एक अग्रवाल दिगम्बर तेरह पन्थी जैनी किसी खण्डेलवाल जैसवाल वा परवार वा हूमड़ आदि दिगम्बर तेरह पन्थी जैनी से विवाह सम्बन्ध नहीं करेगा। ऐसा करने में तो महा अधर्म समझेगा किन्तु किसी अग्रवाल वैष्णव से जो जैनधर्म का कट्टर विरोधी हो विवाह सम्बन्ध करना धर्म के अनुकूल मानेगा। इस प्रकार आजकल तो धर्म का स्वरूप बिलकुल ही बदल दिया गया है। अतः हम अपने जैनी भाइयों से बड़ी नम्रता के साथ प्रार्थना करते हैं कि वे शास्त्रों को पढ़ें और धर्म के असली स्वरूप को जानें।

रत्नमाला के इस एक ही रत्न में हम धर्म के इस विषय को नहीं लिख सकते हैं, सुभीता मिला तो इसही माला के अन्य अनेक रत्नों में लिखने की कोशिश करेंगे, इस प्रथम रत्न में तो हम बहुत मोटे रूप इतना ही लिखदेना काफी समझते हैं कि मनुष्य के वास्ते धर्म अर्थ काम और मोक्ष इस प्रकार चार पुरुषार्थ बताये गये हैं, इनमें मोक्ष पुरुषार्थ का तो गृहस्थ त्यागी परम वीतरागी मुनि ही साधन करसकते हैं और बाक़ी के तीन पुरुषार्थ गृहस्थियों के वास्ते हैं। धर्म पुरुषार्थ का यह मतलब है कि गृहस्थी के वास्ते सप्त कुव्यसनों का त्याग, पंच अणुव्रतोंका ग्रहण और दान पूजादि जो कर्म शास्त्रोंमें बताये हैं उन का साधन करना; अर्थ पुरुषार्थ से मतलब है धन कमाना, क्योंकि बिना धन के गृहस्थी का काम ही नहीं चल सकता है; काम पुरुषार्थ से मतलब है अपने गृहस्थ का सेवन करना, यह तीनों ही पुरुषार्थ गृहस्थी के वास्ते ज़रूरी हैं। इस कारण इन तीनों को इसही तरह सेवन करना चाहिये जिससे इन तीनों में से किसी भी पुरुषार्थ में ख़राबी न आवे, अर्थात् धर्म को इस प्रकार सेवन करे कि न तो उसकी कमाई में ख़राबी

आवे और न गृहस्थसेवन में । इसही प्रकार कमाई भी न्याय नीति के साथ धर्म को सिंभाल कर इस प्रकार करे कि धर्म में फ़रक़ न आजावे, और कमाई करने में ऐसा लिप्त भी न होजावे कि आराम तकलीफ़ और गृहस्थके सुखको भी भूलजावे । इसही प्रकार इन्द्रियभोग और गृहस्थसेवन भी इस रीति से करे जिस से न तो उसके धर्म में वाधा आवे और भोगविलास और काम सेवन में भी न्याय नीति के वाहर न जावे । धर्म मर्यादा के अनुसार जहाँ तक उसको विषय भोगों की इजाजत हो उसके वाहर न जावे और न विषय भोगों में ऐसा लिप्त हो जावे कि धर्म सेवन में भी कमी आ जावे और धन कमाने में भी फरक पड़ने लग जावे । गृहस्थी को यह तीनों ही पुरुषार्थ समान रीति से करने चाहियें और तीनों की पूरी पूरी सिंभाल रखनी चाहिये । अन्त में हमारी यह ही प्रार्थना है कि शास्त्रों में अनन्तानन्त रत्न भरे पड़े हैं जिनमें से यह एक रत्न पाठकों को भेंट किया जाता है । आगामी को इसी प्रकार अन्य रत्न भी यदि पाठक चाहेंगे तो भेंट करते रहेंगे ।

इति
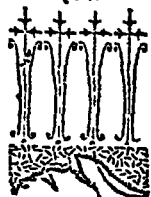
प्रेम मंडल हरदा का ट्रैक्ट नं० ५

ॐ

अहिंसा परमो धर्मः

धर्मसिद्धान्त रत्नमाला

दूसरा रत्न

लेखक—

बाबू सूरजभानु वकील

देवबन्द (सहारनपुर) निवासी

प्रकाशक—

बाबू कुलवन्तराय जैन,

महामंत्री प्रेममंडल हरदा, (सी०पी०)

शान्तिचन्द्र जैन, बुलन्दशहरी के प्रबन्ध से

"वीर प्रेस", बिजनौर में छपा।

प्रथमबार	अगस्त	मूल्य
१०००	१९२६	एक आना

धन्यवाद और निवेदन
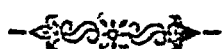
इस रत्न के छपाने को श्रीमान बा० तिलोकचंद जी सोने चान्दी के बड़े व्योपारी सहारनपुर निवासी कलकत्ता वालों ने दान दिया है उन की इस उदारता और परोपकार बुद्धि के लिये हम मंडल की ओर से उन को हार्दिक धन्यवाद देते हैं और अहिंसा प्रेमी सज्जनों से निवेदन करते हैं कि वह भी हिंसा में डूबी हुई दुनिया पर तरस खाकर मंडल को दान देकर ऐसे रत्न प्रकाशित कराते रहैं जिस से धर्म की बढ़वारी हो। हमारे पास कितने ही ऐसे रत्न प्रकाशित करने को मौजूद हैं।

निवेदक

कुलवन्तराय जैनी

ॐ

श्री जिनाय नमः

धर्म सिद्धान्त रत्नमाला

दूसरा रत्न

पवित्री क्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत,
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्म कल्पाङ्घ्रि पाय वै।

जिससे सारा जगत पवित्र होता है और जिससे जगत का उद्धार होता है और जिसमें दया रूपी रस भरा हुआ है उस धर्म रूपी कल्पवृक्ष को मैं नमस्कार करता हूं। दया ही धर्मका लक्षण है, यह दया धर्म ही जगत को पवित्र करने वाला है, जिस के हृदय में दया है वह ही शुद्ध और पवित्र है किसी जाति वा कुल में पैदा होने से वा इस हाड़ मांस के शरीर को धोने और मांजने से शुद्धि नहीं होती है किन्तु हृदय में दया धर्म के आने से ही शुद्धि और पवित्रताई होती है। यह दया धर्म ही पापों में फंसे हुवे और नीचे गिरे हुवे जीवों को ऊपर उभारता है, पापी से पापी और महा नीच से नीच भी यदि दयाधर्म को धारण कर लेता है तो उसका उद्धार हो जाता है, ऊँचे चढ़ने लग जाता है यहां तक कि मोक्ष प्राप्त कर के तीनों लोकों में पूजित हो जाता है। इस दया धर्म के

ग्रहण करने से ही चाण्डाल भी देवोंसे पूजा जाता है, इस ही के अङ्गीकार कर लेने से महा पापी भी धर्मात्मा बन जाता है, इस कारण इस दया धर्म को नमस्कार किया जाता है।

सम्यग्दर्शन सम्पन्न मपि मातङ्ग देहजम्,
देवा देवं विदुर्भस्म गूढांगारान्तरौजसम्।

यदि कोई चांडाल की सन्तान भी सम्यग्दर्शन धारण कर ले अर्थात् धर्म के सत्य स्वरूप का श्रद्धान कर ले तो वह भी देवों से पूजित हो जाता है अर्थात् वह इतने ऊँचे चढ़ जाता है और ऐसा पवित्र हो जाता है कि मनुष्य तो मनुष्य स्वर्गों के देव भी उसकी पूजा करने लग जाते हैं, इस कारण किसी को भी अपनी जाति और कुलका घमण्ड नहीं करना चाहिए। धर्म तो जीव का स्वभाव है इस कारण चाहे कोई ब्राह्मण हो या चांडाल सब ही धर्म ग्रहण कर सकता है। यदि कोई चांडाल दयाधर्म को धारण कर लेता है तो वह पूज्य हो जाता है और यदि कोई ब्राह्मण दयाधर्मी नही है तो वह पतित हो जाता है।

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म किल्विपात
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम्।

धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है और धर्म के त्यागने से स्वर्गों का देव भी कुत्ता हो जाता है, अर्थात् जो कोई भी धर्म धारण कर लेता है वह ही ऊँचे चढ़ जाता है और जो धर्म को छोड़ देता है वह नीचे गिर जाता है तब जाति वा कुल का घमण्ड करने से क्या होता है, जो जैसा करता है वैसा ही फल पाता है, शरीर तो सबही का हाड़ मांसका बना

हुआ है, बूाह्मण की सन्तान का शरीर भी हाड़ मांसका ही होता है और चांडाल और कुत्ते और सूअर आदि निकृष्ट पशुओं का शरीर भी हाड़ मांस का ही होता है, शरीर तो सब ही का अपवित्र वस्तुओं का बना हुवा होता है परन्तु उस शरीर के अन्दर जो जीवात्मा है वह जिस का दया धर्म से सुशोभित है वह ही पवित्र और पूज्य है और जिस में दया धर्म नहीं है वह ही अपवित्र और पतित है।

स्वर्गी पतति साक्रन्दं श्वा स्वर्गं मधिरोहति,
श्रोत्रियः सारमेयः स्यात् कृमिर्वा श्वपचोऽपि वा।

धर्म को अङ्गीकार न करने से स्वर्ग का देवता तो रोता चिल्लाता हुआ नीचे आ पड़ता है, अधोगति को प्राप्त हो जाता है, कुत्ता वा सूकर (सूअर) आदि नीच पशु हो जाता है और कुत्ता धर्म को अङ्गीकार कर लेने से ऊपर चढ़ जाता है-स्वर्गों का देव बन जाता है, श्रोत्रिय बूाह्मण जो बड़ी छूतछात करता है, सारा दिन स्नान करता है, बड़ी शुद्धता के साथ अपने ही हाथ से भोजन पका कर खाता है, अपनी रसोई की भूमि पर भी किसी की छाया भी नहीं पड़ने देता है उसका जीवात्मा यदि दया धर्म से शून्य है तो वह इतना नीचे गिर जाता है कि मर कर गन्दगी का कीड़ा वा गन्दगी उठाने वाला चांडाल हो जाता है।

रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यानि सन्ततम्
यथा रङ्गेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्र वाहकः।

यह संसारी प्राणी तो सदा ही अनेक रूप धारण करता रहता है और छोड़ता रहता है, जिस प्रकार नाटक करने वाले तरह तरह का स्वांग भरते रहते हैं इस ही प्रकार यह

संसारी जीव भी तरह तरह का शरीर धारण करतो रहता है।

देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपिच,
न सायोनिर्न तद्रूपं न तद्देशो न तत्कुलम्।
न तद्दुःखं सुखं किञ्चित पर्यायः सविद्यते,
यत्रैते प्राणिनः शश्वद्यातायातैर्न खण्डिताः।

स्वर्गों में, मनुष्यों, में तिर्यंचों और नरकों में ऐसी कोई पर्याय, ऐसा कोई रूप, ऐसा कोई देश, ऐसा कोई कुल वा ऐसी कोई सुख दुख की अवस्था नहीं है जो प्रत्येक जीव ने न पाई हो अर्थात् अनादि काल से सब ही जीव इस संसार में भ्रमण करते हुये कभी वनस्पति, कभी कीड़े मकौड़े, कभी पशु पत्ती, कभी मनुष्य, कभी नारकी और कभी स्वर्गों के देव होते रहते हैं, कोई ऐसी घटिया से घटिया और बुरी से बुरी अवस्था नहीं है जो इस जीवने न पाई हो तब यह किस प्रकार अपनी जाति वा कुलका घमण्ड कर सकता है। हमारा जीव नहीं मालूम कितनी बार विष्टा का कीड़ा हो चुका है और कितनी बार कुत्ता और सूकर हो कर विष्टा खाता फिरा है और अब भी नहीं मालूम आगे को क्या क्या पर्याय धारण करनी पड़ जाय, तब हम किस बात का घमण्ड करें और किस मुँह से किसी से घृणा करें, हम को तो उस धर्म को ही धन्यवाद देना चाहिये जिसके अङ्गीकार करने से हमारे अन्तरंग भाव पवित्र होकर हम को यह मनुष्य जन्म मिला और घृणा भी हम को उस ही अधर्म या खोटे भावों से करनी चाहिये जिनके अङ्गीकार करने से हम फिर पतित होकर विष्टा के कीड़े वा सूकर हो सकते हैं, किसी भी प्रकार घमण्ड करना अपने भावों को मलिन और अपवित्र करना है जिस से नीचे को गिरना होता है, इस कारण अपनी जाति वा

कुल का घमण्ड करना और दूसरों से घृणा करना तो फिर अपने भावों को बिगाड़ कर विष्टा का कीड़ा बनने वा शूकर पर्याय पाने की तय्यारी करना है ।

निसर्ग गलिलं निन्द्य मने का शुचि सम्भृतम्
शूक्रादि बीज सम्भूतं घृणास्पद मिद वपुः ।

इस शरीर में तो स्वभाव से ही अनेक द्वारों से मैला झरता रहताहै। पाख़ाना, पेशाब, थूक, सिनक, आखों की ढीढ, कानों का मैल और पसीना आदि निकलता रहता हैं, हाड़ मांस और रुधिर आदि निंद्य वस्तुवों से यह शरीर भरा हुआ है और पुरुष के वीर्य्य और माता के रुधिर से पैदा हुआ है, इस कारण यह शरीर तो स्वयम ही ग्लानिरूप है, इस शरीर का तो किसी प्रकार भी घमण्ड नहीं किया जा सकता है कि हमारी जाति वालों का शरीर तो पवित्र है और अमुक जाति वालों का अपवित्र है क्योंकि सरीर तो सब ही का इन अपवित्र वस्तुओं का बना हुआ है, तब किस प्रकार कोई घमण्ड कर सकता है और किस प्रकार किसी दूसरे से घृणा की जा सकती है—

यद्यद्वस्तु शरीरेऽत्र साधु बुद्धया विचार्यते,
तत्तत्सर्वं घृणां दत्ते दुर्गंधा मेध्य मंदिरे ।

पक्षपात रहित निर्णय बुद्धि से विचार करने पर इस शरीर की तो सब ही वस्तु घृणा के योग्य और दुर्गन्धमय विष्टा का घर प्रतीत होती हैं अर्थात् इस में तो कोई भी वस्तु पवित्र नहीं है तब हम कैसे मान लें कि उच्च कुल में पैदा होने के कारण हमारा शरीर तो पवित्र है और नीच कुल में पैदा होने वालों का शरीर अपवित्र है, शरीर तो सब ही का एक

ही प्रकार की अपवित्र वस्तुओं का बना हुआ है तब उस में पवित्र अपवित्र का भेद कैसे हो सकता है। यह तो कल्पित मिथ्या अभिमान ही है।

यतः शोध्यते दैवाच्छरीरं सागराम्बुभिः
दूषयन्त्यपि तान्येवं शोध्यमानमपि क्षणे ॥

यदि बड़ेभारी समुद्र के सारे जल से भी इस शरीर को धोयाजावे तो भी पवित्र नहीं होसक्ता है किन्तु उस समुद्र के जलको भी ख़राब कर देता है, तब यह शरीर तो किसी प्रकार भी शुद्ध और पवित्र नहीं होसक्ता है।

कर्पूर कुङ्कुमा गुरु मृग मदहरिचन्दनादि वस्तूनि—
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥

कपूर केसर अगर कस्तूरी चन्दन आदि सुगंधित वस्तु भी मनुष्य के शरीर को लगाने से अशुद्ध होजाती है, अर्थात् मनुष्यों का शरीर तो ऐसा अपवित्र है कि उत्तम २ वस्तु भी उसके संसर्ग से अपवित्र होजाती हैं तब यह कोई कैसे घमंड कर सकता है कि मेरा शरीर पवित्र है, शरीर तो सबही का अपवित्र है, तब घमंड किस बातका किया जासक्ता है, यहतो झूठाही घमंड है और पाप कर्मोंका पैदा करने वाला है, जिस प्रकार आजकल कोई कोई अंग्रेज़ अपनी हकूमत के घमंडमें हिन्दुस्तानियों को नीच और अपवित्र समझते हैं, काला आदमी और जंगली मनुष्य कहकर उससे घृणा करते हैं, रेल में भी हिन्दुस्तानी स्त्रियोंके वास्ते अलग और अंग्रेज़ी स्त्रियों के वास्ते अलग डब्बे बना रक्खे हैं और दक्षिण अफ़रीका मेंतो जिन रेलों में और जिन किराये की मोटरों में अंग्रेज़ लोग बैठते हैं उनमें हिन्दुस्तानियों को नहीं बैठने देतेहैं, अंग्रेजों को बस्ती

माने जाते थे, इसही प्रकार वैश्यको ब्राह्मण और क्षत्रियकी कन्याके व्याहलेने का तो अधिकार नहीं था क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय यह दोनोंही वैश्यों से ऊँचे गिने जाते थे परन्तु वैश्यको अपनी वैश्यजाति की और शूद्रजाति की भी कन्याके व्याहलेने का अधिकार था, इसही प्रकार शूद्र सबसे घटिया मानाजाने के कारण उसको अपनी शूद्रजाति के सिवाय अन्य किसी कीभी कन्या व्याहलेने का अधिकार नहीं था, परन्तु शूद्रकी कन्याको सबही व्याह सक्ते थे क्योंकि अन्यसब उससे ऊँचे गिने जाते थे, यह ही बात नीचेके श्लोकों से विदित है:-

शूद्राशूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः--
वहेत्स्वां ते चराजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्चताः

शूद्रैव भार्या शूद्रस्यसा च स्वा चविशः स्मृते-
तेचस्वा चैवराज्ञश्चतारच स्वा चागजन्मनः

आनुलोम्येन चतुस्त्रि द्विवर्ण कन्या भजना ब्राह्मण क्षत्रियविशः

म्लेच्छ लोग शूद्रों से भी घटिया माने जाते थे और उनकी कन्या भी उच्चजातिके लोग व्याह लातेथे, भरत चक्रवर्ती म्लेच्छों की ३२ हजार कन्यायें व्याहकर लाये थे ।

इसके बाद घमंडमें आकर शूद्रों से और भी ज़्यादा घृणा होगई और उनकी कन्या लेनाभी अयोग्य ठहरादिया गया और वेदानुयाई ब्राह्मणों ने तो शूद्रों के वास्ते यह भी हुकम चढ़ादिया कि उनको धर्म शास्त्रों के पढ़ने और पूजा भक्ति करनेका भी अधिकार नहीं है, यहां तक कि अगर कोई शूद्र धर्म ग्रन्थ पढ़ता हुवादेखा जाताती सीसा पिघलाकर उसके मुंहमें डाल दिया जाता जिससे वह सिरसे पैरतक भस्म-

होकर मर जावे और यदि वह पूजापाठ करता हुवा देखा जावे तो उसका सिर काटदिया जाता, फिर होते होते इस जातिभेद ने यहांतक ज़ोर पकड़ा कि ब्राह्मणोंने क्षत्रियों और वैश्यों की कन्या व्याहना भी वन्द करदिया और क्षत्रियोंने भी वैश्यों की कन्या व्याहलेना छोड़दिया और रोटीपानी में भी परहेज़ होनेलगा, ब्राह्मणतो सर्वश्रेष्ठ थाही उसके हाथकी रोटी से तो कोई इन्कार नहीं करसकता परन्तु ब्राह्मणोंने क्षत्रियों और वैश्यों के हाथकी रोटी खाना छोड़ दिया, इसही प्रकार क्षत्रियोंने भी वैश्यों के हाथकी रोटी से परहेज़ किया, फिर होते होते ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार जातियों में से प्रत्येक जाति में आपसमें अपनों से भी परहेज़ होने लगगया। एक देशके ब्राह्मण दूसरे देश के ब्राह्मणों से रोटी बेटी व्यवहार करने में घृणा करने लगगये, इसही प्रकार अन्य जातियोंने भी परहेज़ करना शुरू करदिया और होते होते ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार जातियों की तीन हज़ार जातियां होगईं जो आपसमें एक दूसरे से रोटी बेटी व्यवहार नहीं करती हैं और इसही को धर्म समझती हैं, जो धर्म अन्तरङ्ग आत्माको विषय कषायों के जालसे छुड़ाकर और केवलज्ञान प्राप्त करा करसदा के लिये परमानन्द पद दिला देनेवाला है वह आपस में जातिभेद मानकर रोटी बेटी व्यवहार न करने में ही रह गया, यह ही महामोह और घमंड है जो संसार में डुबाने वाला है।

धर्मं धर्मेति जलपन्ति तत्व शून्या कुदृष्टयः
वस्तुतत्वं न बुध्यन्ते तत्परीक्षाऽक्षमायतः

जो लोग धर्मके बाधको अर्थात् वंतकी बातको, धर्मके

सारको नहीं जानते हैं और उलटी पुलटी बातोंपर श्रद्धान रखते हैं वह धर्म धर्म तो गाते हैं परन्तु वस्तुके यथार्थ स्वरूप को, उसकी असलियत को नहीं जानते हैं, परीक्षा करके अच्छी तरह सच झूठको परखा करके धर्मको नहीं मानना चाहते हैं, किन्तु अन्धेकी तरह आंख मींचकर ही सबकुछ मान लेते हैं, इसही कारण उलटे पुलटे रास्तेपर पड़कर पाप कमाते हैं और संसार में ही भटकते हुवे महादुख उठाते रहते हैं। सच्चा धर्म तो अच्छी तरह जांच पड़ताल करने से ही हासिल हो सकता है, सच्चा धर्म तो वह ही है जो अन्तरंग की शुद्धि कर के जीवात्मा को कर्म बन्धन से छुड़ाता है और परम शान्तमय मोक्ष पद दिलाता है।

मूढ़ भावेन यो मूढ़ो धर्मं गृह्णाति लोकजं,
पुण्याय स विषं भुंक्ते सुखाय प्राण नाशनं।

जो मूढ़ आदमी भाव कर के अर्थात् अन्धा हो कर के बिना सोचे समझे दुनिया में प्रचलित धर्म को पुण्य प्राप्ति के अर्थ ग्रहण करता है अर्थात् जिस को दुनिया के लोग धर्म मान रहे हैं बिना विचारे उस ही को धर्म मान कर उस ही के अनुसार चलने लगता है वह तो मानों सुख के अर्थ विष को भक्षण करता है क्योंकि लौकिक रीति रिवाज तो किसी प्रकार भी धर्म नहीं हो सकते हैं और न किसी प्रकार का पुण्य प्राप्त करा सकते हैं। धर्म तो अपनी अन्तरआत्मा को पवित्र और शुद्ध बनाने का नाम है और लौकिक में आपस में पक्षा पक्षी रखना और कषाय करना ही धर्म माना जाता है जैसे हिन्दुस्तान में अपनी ही जाति वालों के सिवाय अन्य किसी के हाथ का नहीं खाना और न अपनी जाति के सिवाय

अन्य किसी जाति वाले से व्याह शादी करना, इस भेद भाव को ही धर्म मानने का रिवाज हो गया है। यह तो किसी प्रकार भी धर्म नहीं हो सकता है किन्तु राग और द्वेष को ही बढ़ाने वाला है। इस कारण इस से तो पाप ही पैदा होता है, परन्तु यह सब बातें आंखें खोल कर और बुद्धि को लड़ा कर धर्म की परीक्षा करने से ही समझ में आ सकती हैं, इस वास्ते धर्म तो आंखें खोल कर ही ग्रहण करना चाहिए, नहीं तो लाभ के स्थान में नुक़सान ही उठाना है।

सद्विचारम् परित्यज्य क्रियते सशठैर्जनैः।
कथ्यते तद्बुधैर्लोके मूढत्वं सम्पोढ़ं॥

जो पुरुष उत्तम विचार को अर्थात् सोचसमझ कर और अच्छी तरह परीक्षा और निर्णय करने की रीति को छोड़ कर के बिना सोचे समझे ही धर्म को ग्रहण कर लेता है उस को बुद्धिमान लोग धर्म मूढ़ कहते हैं।

निर्दयेनहि चिंतेन श्रुतेना चरणेनच।
यस्यस्वीकार मात्रेण जन्तवोयान्ति दुर्गतिम॥

जो शास्त्र दया नहीं सिखाता है किन्तु निर्दयता करना ही धर्म बताता है उस शास्त्र से और उसके अनुसार आचरण करने से क्या लाभ हो सक्ता है, ऐसी बात के तो अंगीकार करने से ही मान लेने से ही जीव दुर्गति पाता है।

एतत्समय सर्वस्यमेतत्सिद्धान्त जीवितम्।
यज्जन्तुजातरक्षार्थंभावशुद्धया दृढं व्रतम्॥

जिससे सब ही जीवों की रक्षा होती हो, सब ही का भला होना हो वह ही धर्म है और यह ही सिद्धान्त का रहस्य है

और भावों की शुद्धि कराने वाला वह ही सब से पक्का व्रत है।

श्रूयते सर्व शास्त्रेषु सर्वेषु समयेषुच।
"अहिंसालक्षणो धर्मः" तद्विपक्षश्च पातकम्।

सब ही धर्मों में और सब ही धर्मों के शास्त्रों में यह ही बात सुनने में आती है कि अहिंसा अर्थात् दया करना तो धर्म का लक्षण है और इसके विपरीत अर्थात् हिंसा और निर्दयता पाप का लक्षण है।

बलि भिर्दुर्बलस्यात्र क्रियते यः पराभवः।
परलोके सतैस्तस्मादनन्तः प्रविपद्यते॥

जो कोई बलवान होकर अधिकार वा काबू पाकर अपने से कमज़ोर को दबाता है, तुच्छ और हक़ीर बनाकर ठोकरों से ठुकराता है वा किसी प्रकार सताता है वह अगले जन्मों में उससे अनन्तगुणा ज़लील और ख़्वार होता है, घोर दुखपाता है। दुनिया अधिक दुखदाई इसही कारण हो रही है कियहां बलवान निर्बलों को सताता है, हमारे साथ कोई किसी प्रकार की ज़्यादती या ज़बरदस्ती करता है तो हम उसको ज़ालिम और अन्यायी कहकर उसके नाश की भावना करने लगते हैं, परन्तु स्वयम अपने से कमज़ोरों पर ज़्यादती करने को बुरा नहीं समझते हैं इस ही से संसार में महापाप फैला हुआ है।

यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक चित्त-कर्मभिः कार्यम्;
स्वप्नेऽपि नो परेषामितिधर्म स्याग्रिमंलिङ्गम्॥

धर्म की सब से मुख्य पहचान यह है कि जो जो क्रियायें अपने वास्ते बुरी मानते हो वह वह सब क्रियायें मनसे, वचन

मानता है परन्तु जब वह रेल में बैठ जाता है तो स्वयम भी नये मुसाफ़िरों को बैठने से रोकने लग जाता है। यह ही हाल सब कामों में हो रहा है। जिस प्रकार बेईमान दूकानदार लेने के बाट दूसरे और देने के दूसरे रखता है ऐसा ही सब लोग अपने वास्ते जो व्यवहार चाहते हैं यह व्यवहार स्वयम दूसरों के साथ नहीं करते हैं। हम चाहते हैं कि हमारे सब भाई भतीजे और बेटे पोते व्याहे जावें। इन सब ही को दूसरों की कन्यायें मिलजावें। इस प्रकार हमारे बेटे पोते के व्याहे जाने के वास्ते तो दूसरों के यहां कन्यायें ज़रूर पैदा होवें पर हमारे यहां कोई भी कन्या न पैदा होने पावे। हम चाहते हैं कि जो कन्या हमारे बेटों पोतों को व्याही जावे वह बहुत बुद्धिमान पढ़ी लिखी, घरबार के कामों में होशियार, गम्भीर, सहनशील, उदार, हँसमुख और कुटम्ब में मिलकर रहने वाली और सास ससुर की सेवा करने वाली हो परन्तु अपनी कन्याओं को हम कुछ भी तमीज़ नहीं सिखाना चाहते हैं। यह तो पराया धन है, इनको तो यहां नहीं रहना है, दूसरे ही घर जाना है ऐसा कहकर उनको बहुत बुरी हालत में रखते हैं और दुर दुर परपर करते रहते हैं जिससे उनका स्वभाव बहुत हीकमीना हो जाता है, हृदय उनका अत्यन्त निर्दय और कठोर बन जाता है, हरवक्त लड़ने भिड़ने और कलह करते रहने का ही उनका स्वभाव होजाता है, मन में कुछ, और बाहर कुछ यह ही उनका स्वभाव हो जाता है। स्वार्थ साधन के सिवाय अन्य कोई उनको काम नहीं होता है। झूठ बोलना और मायाचारी करते रहना ही उनको पसन्द होता है, झिड़के खाने और बुरा भला सुनने में ही उनको स्वाद आता है, परन्तु उनको तो पराये घर जाना है इस कारण

निस्त्रिंश एव निस्त्रिंशं यस्य चेतोऽस्ति जन्तुषु,
तपः श्रुताद्यनुष्ठानं तस्य क्लेशाय केवलम्।

जिस का मन दूसरों के वास्ते शस्त्र के समान है अर्थात् जो निर्दय अपने सुख के वास्ते दूसरों को दुःख देने में नहीं हिचकिचाता है उस का तप करना और शास्त्र का पढ़ना व्यर्थ का ही कष्ट उठाना है। कुछ भी लाभ दाई नहीं हो सकता है। हृदय दयावान होने पर ही जप तप आदि धर्मअनुष्ठान कुछ कार्य्यकारी हो सकते हैं।

करुणार्द्रं च विज्ञान वासितं यस्य मानसम्
इन्द्रियार्थेषु निः सङ्गं तस्य सिद्धं समीहितम्।

जिस का मन करुणा और दया से भीगा हुवा है अर्थात् जो अपने जैसी जान दूसरों में भी जानता है, समझदार है और इन्द्रियों के विषयों में नहीं फँसा हुआ है उस के सब ही कार्य सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् उस का ही धर्म साधन करना सफल होता है।

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसै वानन्द पद्धतिः
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीर हिंसैव शाश्वती।

जिस प्रकार माता अपने पुत्र की पालना करती है इस ही प्रकार अहिंसा धर्म से ही जगत के सब जीवों की रक्षा होती है इस कारण अहिंसाही जगत माता है, अहिंसा ही सुख शान्ति और आनन्द के देने वाली है, अहिंसा ही उत्तम गति, अहिंसा ही लक्ष्मी है और अहिंसा ही सब गुणों की खानि है।

सप्त द्वीपवंती धात्री कुलाचल समन्विताम् ।
नैक प्राणिवधोत्पन्नं दत्वा दोषं व्यपोहति ॥

यदि सातों द्वीप और उनके सारे पर्वत आदि भी दान कर दिये जावें तोभी एक जीव को हिंसा वा दुख देने से जो पाप होता है वह दूर नहीं हो सक्ता है किसी को दुख देने का ऐसा महा पाप है परन्तु आश्चर्य है कि लोग प्रचलित रीति रिवाजों में मोहित अपनी सन्तान का सत्यानाश कर डालने में भी नहीं हिचकिचाते हैं, बालपन में ही उनका विवाह करके उनको निर्बल और रोगी बना देते हैं जिससे वह उम्र भर दुख पाते हैं और जल्दी ही मर जाते हैं। कन्याओं का तो स्वयं ही मरना मनाते रहते हैं, उनको बहुत ही बुरी दशा में रखते हैं और उनकी शिक्षा रक्षा का कुछ भी ख्याल नहीं करते हैं, अपनी नेकनामी के लिए उनके वास्ते धनवान वर चाहते हैं पर कन्याओं के योग्य वर पसंद नहीं करते हैं। इस ही कारण बहुत छोटे वा बहुत अधिक वर को ब्याह कर अपनी कन्या को उम्र भर के लिए दुख सागर में डुबा देने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाते हैं। रोगी सोगी कुचाली दुराचारी और महा दुष्ट स्वभावी आदि चाहे कैसा ही हो परन्तु धनवान हो उसको अपनी कन्या सौंप देने में ज़रा नहीं डरते हैं, कन्याओं को रांड बनाने के वास्ते तो मानो दया धर्मी धनवानों ने ठेका ही ले रखा है, धड़ाधड़ बुड्ढों के ब्याह होकर विधवा बनाने का कारखाना चलाया जाता है और खुशियां मना कर सारा समाज जीमने जाता है, तब ऐसी समाज की पूजा पाठ और धर्म के नाम से लाखों रुपया ख़र्च करने, बड़े बड़े मंदिर बनवाने और प्रतिष्ठा दिखलाने और सदा व्रत लगाने से क्या यह महा पाप दूर हो सकता है; निर्दोष कन्याओं की जो हत्या इस प्रकार

होती है क्या उसके महापाप से विरादरी बच सक्ती है, हरगिज़ नहीं और कदाचित नहीं।

कुल क्रमागता हिंसा कुल नाशायकीर्तिता।
कृता च विघ्न शान्त्यर्थं विघ्नौघायैव जायते॥

यदि किसी कुलमें किसी प्रकार की हिंसा होती हुई चली आई है जैसा कि किसी कुलमें कन्याओं को मार डालने की रीति हो, किसी कुल में उनका मरना मनाने और मरजानी आदि कहने की रीति हो, किसी कुल में कन्या को बालपन में व्याह कर उसकी ज़िन्दगी बर्बाद कर देने की रीति हो, व्याह शादी में अधिक धन लगा कर भूखा कंगाल हो जाने की रीति हो, किसी कमाऊ पुरुष के मर जाने पर उसकी भूखी कंगाल विधवा से नुक्ते की रसोई लेने की रीति हो वा अन्य कोई ऐसी ही हत्यारी रीति हो तो ऐसी रीति उस कुल या जाति को ही नाश कर देने वाली होती है। जिसको इस प्रकार के नाश से बचना हो उसको ऐसी हत्यारी रीति को शीघ्र ही छोड़ देना चाहिए। अपने कुल वा जाति के साथ होने का इन्तज़ार नहीं देखना चाहिये, इस ही प्रकार यदि किसी हिंसा से लोग विघ्न की शान्ति होना मानते हों, उससे विघ्नों को शान्ति तो नहीं होती है किन्तु पाप पैदा होकर नवीन नवीन विघ्न और नवीन मुसीबतें ज़रूर आ घेरती हैं, जीवों को हिंसा करने से तो कदाचित भी शान्ति नहीं हो सक्ती है।

अभयं यच्छभूतेषु कुरु मैत्री मनिन्दिताम्।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकमचराचरम्॥

सब जीवों को अभयदान दो, कोई तुम से किसी भी

प्रकार का भय न करे, सब ही जीवों से पूरी पूरी मित्रता करो सब ही का भला करो, किसी को भी किसी प्रकारका दुख मत दो, सबको ही अपने समान समझो।

यथा यथा हृद्स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम्।
तथा तथा विवेक श्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते॥

मनुष्य के हृदय में जितनी २ करुणा स्थान पकड़ती जाती है, जितना २ दया का भाव जमता जाता है उतना २ ही उस की विवेक बुद्धि प्रकट होती है, अर्थात् जिसके हृदय में दया नहीं होती वह अपने स्वार्थ में अंधा रहने से भले बुरे को कुछ भी तमीज़ नहीं कर सक्ता है, इस ही कारण जितनी २ किसी के हृदय में से निर्दयता और स्वार्थ दूर होता रहता है उतनी उतनी ही उसको भले बुरे और धर्म अधर्म की समझ होने लगती है।

यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःख शोक भयबीजम
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसा संभवं ज्ञेयम्

इस दुनियाँ में जीवों को जो कुछ भी दुख शोक और दुर्भाग्य आदि है वह सब हिंसा से ही उत्पन्न हुवा समझो। सब पापों की जड़ यह हिंसा ही है, जो जितना किसी को सताता है वह उतना ही पाप कमाता है और फिर उस के फल स्वरूप दुख पाता है।

धन्यास्ते हृदये येषा मुदीर्णं करुणाम्बुधिः
वाग्वीचि सञ्चयोल्लासैर्निर्वापयति देहिनः

जिन के हृदय में करुणा का समुद्र उत्पन्न होकर दयारूप

वचनों की लहरों से जीवों को शान्ति मिलती है वह ही पुरुष धन्य हैं। करुणावान के वचनों को सुन कर तो दुखी जीव भी शान्ति पालेते हैं।

न तथा चन्दनं चन्द्रो मणयो मालती स्रजः
कुर्वन्ति निर्वृतिं पुंसां यथा वाणी श्रुति प्रिया

जिस प्रकार कानों को प्यारा मीठा बोल सुखदाई होता है ऐसा चन्दन, चांदनी, मणि, मोती, और मालती के फूलों की माला भी सुखदाई नहीं होती है।

काकतालीयकन्याये नोपलब्धं यदि त्वया
तत्तर्हि सफलं कार्यं कृत्वात्म न्यात्म निश्चयम्

जिस को यह मनुष्य जन्म किसी कारण से प्राप्त हो गया है उस को चाहिये कि अपनी आत्मा का निश्चय करके इस को सफल करै, अर्थात् उत्तम उत्तम धर्मकार्य करके ही मनुष्य जन्म को सफल करै।

वर्द्धयन्ति स्वघाताय ते नूनं विष पादपम्
नरत्वेपि न कुर्वन्ति ये विवेच्यात्मनो हितम्

इस मनुष्य जन्म में ही बुरे भले के विचार की शक्ति होती है और यह मनुष्य जन्म मिलना भी बहुत दुर्लभ है, परन्तु इस को पाकर भी जो अपना हित नहीं करते वह मानो अपने घात के वास्ते विष वृक्ष ही बोते हैं।

क्षणिकत्वं वदन्त्यार्या घटी घातेन भुभृताम्
क्रियतामात्मनः श्रेयो गतेयं नागमिष्यति

राजाओं के यहां जो घड़ी या घंटा बजता है वह मानो जगत के जीवों को पुकार पुकार यह कहता है कि जो तुम्हें अपना कल्याण करना है तो शीघ्र कर लो नहीं तो समय बीता जाता है। लो यह एक घड़ी और बीत गई है इस ही प्रकार अन्य भी सब घड़ियां बीतती चली जायंगी और मृत्यु आन दबायेगी।

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः
अनाथ वत्सलः सोऽयं स त्राता कारणं विना

धर्म ही गुरु है, धर्म ही मित्र है, धर्म ही स्वामी है, धर्म ही भाई बन्धु है, धर्म ही हितु है, यह धर्म ही निस्वार्थ भाव से अनाथों का नाथ और उन का प्यारा है, इस कारण एक मात्र धर्म का ही आश्रय लेना चाहिये और आंखें खोल कर जो वास्तव में कल्याणकारी प्रतीत हो उसके ग्रहण करने में मां बाप भाई बन्धु वा जाति बिरादरी आदि किसी का भी कुछ ख़याल नहीं करना चाहिये।

प्रेम मंडल हरदा का ट्रैक्ट नं० ६

ॐ
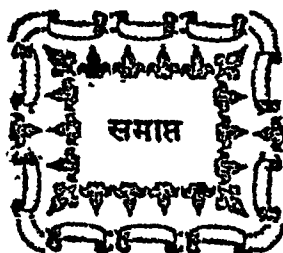
अहिंसा परमो धर्मः

धर्मसिद्धान्त रत्नमाला

तीसरा रत्न

लेखक—

बाबू सूरजभानु वकील

देवबन्द (सहारनपुर) निवासी

प्रकाशक—

बाबू कुलवन्तराय जैन,

महामंत्री प्रेममंडल हरदा, (सी०पी०)

शान्तिचन्द्र जैन, बुलन्दशहरी के प्रबन्ध से

"वीर प्रेस", बिजनौर में छपा।

प्रथमबार	अगस्त	मूल्य
१०००	१९२६	एक आना

निवेदन

इस पुस्तक के छपाने का कुल खर्चा मेरी पुत्री सौभाग्यवती कौशल्यावाई ने अपनी चौथी किलास में अव्वल नंवर पास होने की खुशी में दिया है। मैं उस को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और प्रार्थी हूँ कि अन्य अहिंसा प्रेमी भाइयों तथा वहनों को इसी तरह दान देकर धर्म की वढ़वारी करनी चाहिये। हमारे पास अनेक पुस्तकें छपाने को तैयार रखी हैं। पैसे की कमी से लाचार हैं।

निवेदक

कुलवन्तराय जैनी

ॐ

श्री जिनाय नमः

धर्म सिद्धान्त रत्नमाला

तीसरा भाग
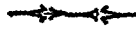
धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पद मुच्चैस्तदत्ययः ॥

जो धर्म के धारण करने वाले को नीच स्थान से उठाकर उच्च स्थान में पहुंचा दे वह ही धर्म है, संसार नीच स्थान है और उस से छूट कर मोक्ष पाना उच्च स्थान है, भावार्थ धर्म वह ही है जो नीचों और पापियों को पूज्य बना दे।

निराकुलं सुखं जीव शक्तिर्द्रव्योपजीविनी,
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्ति स्तद् घाति कर्मणः।

आकुलता रहित जीव की निज शक्ति का नाम ही सुख है, आकुलता जीव का असली स्वभाव नहीं है, किन्तु कर्मों के उदय से ही पैदा होती है।

अपि, सिद्धं सुखं नाम यदना कुललक्षणम्
सिद्धत्वादपिनोकर्म विप्र मुक्तौ चिदात्मनः

आकुलता का न होना ही सुख है और यह निराकुलता कर्मों के दूर होने से ही होती है।

ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योप जीविनौं,
देहेन्द्रियाद्यभावेपि, नाभावस्तद्द्वयो रिति ।

ज्ञान और आनन्द यह दोनों ही जीव के असली स्वभाव हैं. यह जीव में नित्य रहते हैं और शरीर और इन्द्रियों के आधीन नहीं हैं बिना शरीर और इन्द्रियों के भी ज्ञान और आनन्द उस के साथ रहते हैं।

संसारे वा विमुक्तौ वा, जीवो ज्ञानादि लक्षणः,
स्वयमात्मा भवत्येष ज्ञानं वा सौख्यमेव वा।

जीव चाहे संसारी हो, चाहे मुक्त हो ज्ञानादि गुण बराबर उस के साथ रहते हैं, स्वयं जीवात्मा ही ज्ञानरूप और सुख रूप है अर्थात् ज्ञानानन्द जीव का असली स्वभाव है।

किञ्च साधारणं ज्ञानं सुखं संसार पर्यय,
तन्नि रावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः।

संसारी जीव को ज्ञान और सुख साधारण रूप कुछ थोड़ा ही सा होता है, मुक्त होने पर अर्थात् कर्मों का पर्दा हट जाने पर वह ज्ञान और सुख पूर्णरूप से ही प्रगट हो जाता है।

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः,
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात्।

इस से यह सिद्ध है कि ज्ञान और सुख जीव के असली गुण हैं. जीव चाहे संसारी हो वा मुक्त उसके इन गुणोंका नाश नहीं होता है।

अस्ति कर्म मला पाये विकारश्चेति यत्मनः,
विकारः कर्म जो भावः कदाचित्कः सपर्ययः।

कर्मों के दूर हो जाने से जीवात्मा के सब विकार दूर हो जाते हैं; विकार कर्मों से ही पैदा होते हैं, वह विकार जीवके गुण नहीं हैं पर्याय हैं अर्थात् एक प्रकार की अवस्थायें हैं . सदा नहीं रह सक्ती हैं।

ततः सिद्ध शरीरस्य पञ्चाक्षाणं तदर्थ सात,
अस्त्य किञ्चित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखम्पति।

इस प्रकार यह बात सिद्ध है कि शरीर और पांचों इन्द्रियां जीवात्मा को कुछ भी ज्ञान और सुख नहीं दे सकते ज्ञान और सुख तो जीवात्मा का अपना ही असली स्वभाव है।

जीवाजीव विशेषोस्ति द्रव्याणं शब्दतोर्थतः,
चेतना लक्षणो जीवः स्याद जीवोप्य चेतनः।

जीव और अजीव यह दो ही प्रकार के पदार्थ संसार में हैं जिस में चेतना अर्थात् ज्ञान है वह जीव है और जिस में ज्ञान नहीं है वह अजीव है।

अहम्प्रत्यय वेद्यत्वाज्जीवस्यास्ति त्वमन्वयात,
एको दरिद्र एकोहिं श्री मानिति च कर्मणः।

मैं हूं ऐसा जिस को ज्ञान है वह ही जीव है और इस ज्ञान से ही जीव का होना सिद्ध होता है और कोई कंगाल कोई धनवान वा कोई दुखी कोई सुखी जो दिखाई देता है यह सब अपने २ कर्मों के सबब से ही जीवों को भिन्न २ प्रकार की अवस्था से ही कर्मों का होना सिद्ध होता है।

तत्राऽद्वैतेपि यद् द्वैतं तद् द्विधाप्योप चारिकम्,
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत्सोपधि द्वितीयकम्।

कर्मों के मिलने से ही जीवात्मा में अशुद्धता आती है पर पदार्थ के मिले बिदून अशुद्धता हो ही नहीं सकती।

चतुर्गति भवा वर्ते नित्यं कर्म कहे तुके,
न पदस्थो जनः कश्चित् किन्तु कर्म पदस्थितः।

कर्मों के कारण ही यह जीव चतुर्गति रूप संसार में घूमते फिर रहे हैं, अपने स्वभाव से गिर कर कर्माधीन हो रहे हैं।

व्याकुलः सर्व देशेपु जीवः कर्मो दयाद् ध्रुवम्,
वन्हियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोपलब्धितः।

जिस प्रकार अग्नि के संयोग से पानी गर्म हो जाता है और उबलने लगता है इस ही प्रकार जीव भी कर्म के संयोग से व्याकुल हो रहे हैं।

नहि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात्सुखावहः,
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः।

कोई भी कर्म जीव को सुख देने वाला नहीं है क्योंकि कर्मों का स्वभाव जीव के स्वभाव के विरुद्ध है।

यद् दुःखं लौकिकी रूढि र्निर्णीतेस्तत्र का कथा,
यत्सुखं लौकिकी रूढिस्ततसुखं दु खमर्थतः।

दुनियां में जिस को दुख कहते हैं वह तो दुख है ही परन्तु जिस को दुनियां के लोग सुख कहते हैं वह भी वास्तव में दुख ही है।

कादाचित्कं न तद् दुःखं प्रत्युताच्छिन्न धारया,
सन्निकर्षेषु तेषूच्चैस्तृष्णा तङ्कस्य दर्शनात्।

दुख कभी २ नहीं आता किन्तु इन्द्रियों के विषय भोगरूप लालसा लगी रहने से संसारी जीवों को तो दुख सदा ही लगा रहता है।

इन्द्रियार्थेषु लुब्धा नामन्तर्दाहः सुदारुणः,
तमन्तरायतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः।

इन्द्रियों के विषय भोगों की लालसा रखने वालों के अन्दर सदा ही बड़ी भारी दाह लगी रहती है, भट्टी सी सुलगती रहती है, अन्दर की दाह के बिना तो विषयों में रति हो ही नहीं ... है।

जीवस्याशुद्ध रागादि भावानां कर्म कारणम्,
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ।

कर्मों के उदय से जीवमें राग और द्वेष रूप अशुद्ध भाव पैदा होते हैं और राग द्वेष रूप अशुद्ध भावों से कर्म पैदा होते हैं, इस प्रकार का चक्र बराबर चलता रहता है अर्थात् राग द्वेष रूप भावों से कर्म और कर्मों से रागादि भाव हैं, यह ही संसार चक्र है ।

तस्माच्छुभः शुभेनैव स्याद् शुभोऽशुभेनयः,
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः ।

यह जीवात्मा शुभ भावोंसे शुभ और अशुभ भावोंसे अशुभ हो जाता है और शुद्ध भावों से शुद्ध हो जाता है भावार्थ जीव की शुद्धि अशुद्धि उस के भावों से ही होती है, बाहर की छूत अछूत वा न्हाने धोनेसे तो शरीर की ही शुद्धि अशुद्धि समझनी चाहिये ।

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्न को विदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नोऽरागांशैः कदाचन ॥

जितना अंश रागभाव का होता है उतना ही जीवात्मा-कर्मों से बँधता है, राग के अंश के बिदून कर्मबन्ध नहीं हो सका है ।

रूढितोधिच पुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा ।
तत्रानुकूलरूपा वा मनो वृत्तिः सहानया ॥

संसार में शरीर से उत्तम क्रिया करने को और मुख से उत्तम बचन बोलने को धर्म मानते हैं परन्तु उसही के साथ मन की क्रिया भी उत्तम होनी चाहिये अर्थात मन वचन और काय इन तीनों ही की क्रिया का उत्तम होना धर्म है ।

साद्विधा सर्वं सागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः॥

वह धर्म दो प्रकार है, एक घर में रहने वाले गृहस्थी का धर्म और दूसरा गृहत्यागी मुनि का धर्म।

सधर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्ति चारित्र त्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेवयोः॥

वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप है और इन तीनों में सम्यग्दर्शन इन तीनों की जड़ है अर्थात सब से पहले सम्यग्दर्शन होना चाहिये।

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा।
सद्दृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित्॥

इसकारण कोई गृहस्थी हो वा मुनि यदि उसको सम्यग्दर्शन है तो वह धर्मात्मा है, सम्यग्दर्शन विदून तो धर्म हो ही नहीं सकता है।

सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपिमातंगदेहजं।
देवादेवं विदुर्भस्म गूढांगारांतरौजसं॥

सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म का सच्चा श्रद्धान कर लेने से चांडाल माता पिता से पैदा हुवा नीच पुरुष भी देवों से पूजित होजाता है, क्योंकि उसके अन्तरंग में चाँदना हो गया है।

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः।
नित्यंरागादि सद्भावात् प्रत्युताऽधर्मएव सः॥

क्रिया करना ही धर्म नहीं है, मिथ्यादृष्टि अर्थात् जिसको सम्यग्दर्शन नहीं है, अपनी जीवात्मा के असली स्वरूप का श्रद्धान नहीं है वह रागद्वेष को दूर करने की कोशिश नहीं करता है; केवल शरीर से बाह्य क्रिया ही करता है इस कारण

राग भावसहित होने से उसकी क्रियायें धर्म क्रियायें नहीं होती हैं, व्यर्थ का आडम्बर और कायाक्लेश ही होता है।

पंचाग्निसाधने योपि कायक्लेशो विधीयते।
कुत्सितं तपसा मूढैस्तन्मिथ्याचरणं भवेत्॥

मूढ़ पुरुष अर्थात् जिनका सम्यक् श्रद्धान नहीं है वह जो पंचाग्नि तपते हैं तो कायाक्लेश ही करते हैं उनका चारित्र धर्म चारित्र नहीं है, व्यर्थ का ही दुख उठाना है।

चारित्रं दर्शन ज्ञान विकलं नार्थ कृन्मतं।
प्रपातयैव तद्धि स्याद्धंधस्येव विवल्गनं॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के विदून क्रिया कुछ भी फल दायक नहीं हो सकती है किन्तु उलटी संसार में ही पटकने वाली होती है, जैसे अन्धे का दौड़ना जिसको यह मालूम ही नहीं है कि मैं किधर दौड़ रहा हूं इस कारण उलटा पुलटा दौड़ कर वह उस स्थान से और भी ज़्यादा दूर हो जाता है जहां उसको पहुंचना है।

धर्मः सम्यक्त मात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत्॥

सम्यक्तरूप आत्मा ही धर्म है, वा आत्मा के असली स्वरूप का अनुभव न होना ही धर्म है उसका फल इन्द्रियों के सहारे विना ही सुख का होना और उस सुख का सदा के लिये क़ायम रहना और अपने कर्मों को क्षय करके अपना असली स्वरूप पालेना है।

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरोखि रश्मिभिः
दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमशाशयाः

जिस प्रकार सूर्य की किरणों से अंधेरा जाता रहता है

और चारोंतरफ़ रोशनी फैल जाती है इस ही प्रकार सम्यक् श्रद्धान से जीवात्मा में निर्मलता आजाती है।

यथा वा मद्यधत्तूर पाकस्यास्तंगतस्यवै,
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लघः स्यादमूर्छितः।

जिस प्रकार शराब या धतूरा पी लेने से वेहोशी हो जाती है और उसका असर दूर हो जाने पर फिर होश आजाती है इस ही प्रकार दर्शन मोहनीय कर्मके उदय से जीवात्मा उन्मत्त होकर अपने सत्य स्वभाव का अनुभवन नहीं करता है। धर्म के सच्चे स्वरूप का श्रद्धान नहीं करता है, दर्शन मोहनीय कर्म का असर दूर होने पर उस की उन्मत्तता दूर हो जाती है और वह सच्ची बात पर श्रद्धान लाने लगता है।

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः
प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः

दर्शन मोहनीय कर्मके उदय से जीव को वेहोशी सी होजाती है, चित्त ठिकाने नहीं रहता और भ्रम बुद्धि हो जाती है और उस कर्म के असर के हट जाने पर यह सब उन्मत्तता दूर होकर होश आजाती है।

तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणक्रमात्,
अनुकम्पा तथा स्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा।

सम्यग्दृष्टिके गुण प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य हैं जिन का लक्षण इस प्रकार है—

सद्यः कृताऽपराधेषु यद्वा जीवेषु जातु चित्
तद्वाधादि विकाराय न बुद्धिः प्रशमोमतः

जिस किसी ने अपने साथ तुरन्त ही कोई बुराई की हो उसकी भी बुराई न चाहना प्रशम है।

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा
स संवेगोथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान्

सर्व प्रकार की सांसारिक अभिलाषाओं के त्यागने की बुद्धि का होना, इच्छाओं को दूर करना संवेग है, यहही धर्म है जिसके अभिलाषा है वह धर्मात्मा नहीं होसक्ता है।

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्व नुग्रहः,
मैत्री भावोऽथ माध्यस्थं नै शल्यं वैर वर्जनात्।

सब ही जीवों का भला चाहना, परोपकार करना अनुकम्पा है, इसही को मैत्री भाव कहते हैं, द्वेष बुद्धि वा वैर को छोड़ कर मध्यस्थ होजाना व निष्कषाय हो जाना भी इस हीं में गर्भित है।

दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम्
मिथ्या ज्ञानंविना न स्याद्वैर भावः क्वचिद्यतः

दर्शन मोहनी कर्म के उदमन होने से ही अर्थात् सच्चे श्रद्धान के हो जाने से ही अनुकम्पा अर्थात सब जीवों का उपकार करने, सब ही का भला चाहने, सब ही को धर्म में लगाने के भाव होते हैं, वैर भाव वा किसी का बुरा चाहने का भाव मिथ्या ज्ञान के होते हुवे हीं होता है।

समता सर्वभूतेषु यानु कम्पा परत्रसा
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्य वच्छल्य वर्जनात्

सर्व जीवों में समता भाव रखना, सब को अपने समान समझना, दूसरों के साथ अनुकम्पा करना है और हृदय का कांटा निकाल कर मन साफ़ करना अपने ऊपर अनुकम्पा करना है।

आस्तिक्यं तत्त्व सिद्धावेस्वतः सिद्धे विनिश्चितिः
धर्मे हेतो च धर्मस्य फले चाऽत्यादि धर्मवत

जीवादि स्वतः सिद्ध तत्वों के होने में धर्म में, धर्म के कारणों में, धर्म के फल में निश्चय रखना आस्तिक्य है।

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः
तत्राभि व्यञ्जकं वाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम्

दर्शन मोहनीय कर्मके उदय न होने से अर्थात् सम्यक् श्रद्धान के होने से ही प्रशम गुण होता है, जो वाह्य रूप में निंदा और गर्हासे जाना जाता है।

निन्दनं तत्र दुर्वार रागादौ दुष्टकर्मणि,
पश्चातापकरो वन्धो नांऽपेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः।

रागादि दुष्ट भाव जो बड़ी मुश्किल से दूर होते हैं, जिनके होने से ही दुखदाई कर्मों का बंध होता है उनको बुरा जानना ही निन्दा है।

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्च गुर्वात्मसाक्षिकः,
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये॥

कर्मोंका नाश करने के लिये प्रमाद को छोड़कर अपनी शक्ति के अनुसार उन रागद्वेष आदि भावों को पञ्च परमेष्ठी की साक्षीसे त्याग करना गर्हा है।

मद्य मांस मधु त्यागी त्यक्तोदुम्बर पञ्चकः,
नामतः श्रावका शन्तो नान्यथापि तथा गृही।

शराब, मांस, शहद और गूलर आदि पांच उदम्बर फलों का त्याग करने वाला ही श्रावक कहलाता है अन्यथा नहीं, यह ही श्रावक के आठ मूल गुण हैं जिन के विदून श्रावक नहीं कहला सक्ता है।

यथा शक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम्,
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तै रिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम्।

अष्ट मूलगुणों के बाद गृहस्थों को शक्ति के अनुसार सात

कुव्यसन भी त्याग देने चाहियें अर्थात् आहिस्ता २ एक एक दो दो व्यसन त्यागकर सब ही व्यसनों का त्यागी हो जाना चाहिये और जो अणुव्रतों के धारी हैं और शुभ क्रिया ही करना चाहते हैं उनको तो सप्त व्यसनोंका त्याग करना जरूरी ही है।

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति , सिद्धं जगत्त्रये,
लक्षणं चगुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचका।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग प्रसिद्ध हैं, उनको गुण कहो, लक्षण कहो वा अङ्ग कहो यह एकही बात है।

निःशङ्कितं यथा नाम निष्कांक्षित मतः परम्,
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढ़ता।
उपबृंहण नामा च सुस्थितीकरणं तथा,
वात्सल्यंच यथाम्नायाद् गुणोप्यस्ति प्रभावना॥

निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना सम्यक् दर्शन के यह आठ अंग हैं।

धर्मे देवे मुनौ पुण्ये दाने शास्त्रे विचारणं,
दक्षैर्यत क्रियते तद्धि ह्यमूढ़त्व गुणं भवेत्।

धर्म के मानने में, देव के मानने में, साधुमुनि के मानने में, पुन्य और दानमें और शास्त्रके मानने में विचार से काम लेना, वे सोचे समझे आंख मीच कर ही कोई बात नहीं मान लेना, यह अमूढ़दृष्टि गुण है, अर्थात् धर्म की सब बातों को बुद्धि के द्वारा ठीक जांच कर और प्रमाण नय के द्वारा पूरी पूरी परीक्षा करके वस्तु स्वभाव के अनुकूल होने पर ही माननी चाहियें; इन बातों के मानने में मूढ़ अर्थात् बुद्धि हीन मूर्ख नहीं रहना चाहिये किन्तु आँख खोल कर पूरी तरह विचार से काम लेना चाहिये।

जो हवइ असंमूढो चेदा सम दिट्ठि सव्वभावेसु,
सो खलु अमूढ दिट्ठी सम्मा दिट्ठी मुणेयव्वो ।

जो चेतनावान सम्यग्दृष्टि सब ही प्रकार के भावों में अमूढ दृष्टि है अर्थात उन को अच्छी तरह जांच और परख कर ही मानता है, अपनी बुद्धि से पूरा पूरा काम लेता है और भोला निर्बुद्धि नहीं बनता है ऐसा अमूढदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि माना जा सक्ता है अर्थात् जो अमूढ़दृष्टि नहीं है, आंख मीच कर बे सोचे समझे ही मान लेता है वह सम्यग्दृष्टि अर्थात् सच्चाश्रद्धानी नहीं हो सकता है ।

यदपरीक्षां परित्यज्य मूढ भावेन पूज्यते,
पुण्य हेतोर्बुधैस्तत्र देव मूढत्व मुच्यते ।

जो कोई बिना परीक्षा किये मूढ भाव से अर्थात बे सोचे समझे पुन्य के अर्थ किसी को पुजने लगता है वह देव मूढ अर्थात् देवता के मानने में मूर्ख कहलाता है ।

वरोपलिप्सयाऽशावान रागद्वेषमलीमसाः;
देवता यदुपासीत देवतामूढ मुच्यते ।

जो पुरुष अपनी इच्छा की पूर्ती के लिये रागी द्वेषी को पूजने लगता है वह देवता मूढ़ है अर्थात् वह मूर्ख सच्चे झूठे देवता की परख नहीं करता है; अपने कारज की सिद्धि में अंधा होरहा है ।

तद्यथा लौकिकी रूढ़िरस्ति नाना विकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता पुम्भिरथाऽनिष्ट फलप्रदा ॥

संसार में अनेक कारणों से अनेक रीति प्रचलित होजाती हैं, जो विचार शून्य निस्सार पुरुष हैं वह आँख मींच कर उन लौकिक रूढ़ियों पर चलते रहते हैं और नुक़सान ही उठाते हैं अर्थात् प्रचलित रूढ़ियों पर आँख मींच कर नहीं चलना

चाहिये, ऐसा करने से बहुत हानि होती है।

अफला ऽनिष्टफला हेतु शून्या योगापहारिणी।
दुस्त्यज्या लौकिकी रूढ़िः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः॥

संसार में प्रचलित रूढ़ियां अर्थात् ऐसी बातें जो प्रचार में सर्वमान्य हो जाती हैं वह बहुदाकर व्यर्थ ही होती हैं, कुछ भी फल नहीं देती हैं वा उलटा फल देने वाली और नुक़सान पहुंचाने वाली हेतुशून्य अटट्कलपच्चू बिल्कुल ही वे सिर पैर की होती हैं, किसी भी हेतु से सिद्ध नहीं होती हैं, जिन के खोटे कर्मों का उदय होता है अर्थात् जो अभागे हैं वह ही ऐसी रूढ़ियों को छोड़ना मुश्किल समझते हैं।

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिक श्रेय से कुधीः।
मृषालोकोपचारत्वाद् श्रेया लोकमूढ़ता॥

मिथ्या लोकाचार अर्थात् लोकझूठी प्रवृत्ति प्रचलित होने के कारण मूर्ख लोग अपने सांसारिक कारजों की सिद्धि के लिये देखा देखी कुदेवों को मानने लगते हैं। यह ही लोक मूढ़ता है इससे कुछ भी फ़ायदा नहीं होता है, नुक़सान ही होता है।

आचर्यते शठैर्लोकैः परित्यक्ता विचारणं।
प्ररूपितं जिनैस्तद्धि लोकमूढ़त्व मेवभो॥

बुद्धि और विचार से जांचे तोले बिना मूर्ख लोग जो आचरण करते हैं वह ही लोक मूढ़ता है।

अहिंसा लक्षणोये तो जिनोक्तो धर्म एव सः।
स्नानादिश्च श्राद्धादि लोकाचारेण चागतः॥

धर्म तो अहिंसा लक्षण वाला ही है जिसका जिनेंद्र भगवान ने उपदेश दिया है परन्तु लोकाचार में स्नानादिको और श्राद्ध तर्पण आदि को ही धर्म मानते हैं, अर्थात् खाने पीने

और उठने बैठने की छूतछांत, अमुक के हाथ का खाना अमुक के हाथ का नहीं खाना, उस जाति वाले से ब्याह कराना, उससे नहीं कराना, मरे हुवे का नुकता करना आदि यह सब लौकिक व्यवहार हैं जिनको धर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। परन्तु दुनिया के लोग इनही को धर्म मानने लगते हैं।

परीक्षा लोचनैस्त्वं सज्ञैनं धर्म परीक्ष्य च ॥
मिथ्यात्वं च समादाय त्यज मूढत्रयं सुहृत् ॥

हे भाई तो परीक्षा की आंख से अच्छी तरह जांच तोल कर ही जिनेन्द्र भाषित धर्म को अंगीकार कर और मिथ्यात्व को और तीनों प्रकार की मूढ़ता को अर्थात् देवमूढ़ता, धर्म मूढ़ता और गुरु मूढ़ता को छोड़, अर्थात् देव, धर्म और गुरु को विना बुद्धि से परीक्षा किये हर्गिज़ भी मत मान।

मूढ़भावेनयो मूढ़ो धर्मं गृह्णातिलोकजं।
पुण्याय स विषं भुक्ते सुखाय प्राणनाशनं ॥

जो मूर्ख मूढ़ता से अर्थात् विना जांचे पड़ताले आँख मींच कर ही धर्म को ग्रहण करता है वह पुण्य और सुख की प्राप्ति के वास्ते प्राणनाशक ज़हर खाता है अर्थात् बिल्कुल ही उलटा काम करता है।

सम्माइट्ठी जीवाणिस्संका होंति णिब्भयानेण।
सत्तभय विप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥

सम्यग्दृष्टि को किसी प्रकार की शंका नहीं रहती है इस कारण निर्भय हैं, सप्त प्रकार के भय में से कोई भी भय उस को नहीं होता है।

परत्रात्मानु भूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी।
भीतिः पर्याय मूढानां नात्मतत्वैक चेतसाम् ॥

पर पदार्थों में आपा मानने से ही भय होता है, जिन्हों ने

आत्मा के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लिया है उनको भय नहीं होता।

मिथ्या भ्रान्तिर्य द्न्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः ।
यथा रज्जौ तमो हेतोः सर्पाध्यासाद् द्रुयत्यधीः ॥

मिथ्या दृष्टि को ही मिथ्या भ्रम और मिथ्या श्रद्धान होता है जिस प्रकार अन्धेरे में रस्सी को साँप समझने से भय लगने लगता है इसी प्रकार मिथ्यातियों को अनेक बातों का भय लगा करता है।

जो दुण करेदि कंखं कम्म फलेसु तध सव्वधम्मेसु,
सो णिक्कंखो चेदा सम्मा इट्ठी मुणे यव्वो।

जो कर्मों के फल में और धर्म करने के बदले में किसी प्रकार की इच्छा नहीं रखता है वह सम्यग्दृष्टि निःकांक्षित है।

धर्मं कृत्वापि यो मूढ़ इच्छते भोगात्मनः
रत्नं दत्वास गृह्णाति काचं स्वर्गोमोक्षसाधनं।

जो मूर्ख धर्म कर के भोगों की वाञ्छा करता है वह स्वर्ग मोक्ष के देने वाले रत्न के बदले कांच लेना चाहता है।

आत्मन्यात्म गुणोत्कर्ष बुद्धयां स्वात्म प्रशंसनात्,
पर आप्य पकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता।

अपने में अधिक गुण मान कर अपनी प्रशंसा करना और दूसरों को घटिया जानना विचिकित्सा है॥

दुर्दैवादुःखिते पुंसि तीव्राऽसाताघृणास्पदे
यन्नादया परं चेतः स्मृतानिर्विचिकित्सकः

दुर्भाग्य से जो पुरुष दुखो हो रहा है और तीव्र असाता कर्म के उदय से महाघृणित अवस्था में हो रहा है उस पर अदया का न होना अर्थात् उस से घृणा न करना किन्तु उस पर दयाकरना निर्विचिकित्सा है।

नैतन्मनस्य ज्ञानम सम्यहं सम्पदां पदम्
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम्

मैं तो सर्व सम्पदाओं का स्वामी हूं और यह दीन हीन पुरुष विपत्तियों का स्वामी है; यह मेरी बराबरी नहीं कर सक्ता है ऐसी मूर्खता मन में नहीं लानी चाहिये।

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्म विपाकजाः
प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः

ऐसी ना समझी न होकर यह ही समझना चाहिये कि कर्मों के बंधन में फंसे होने के कारण संसार के तो सब ही त्रस थावर जीव समान हैं। जेलख़ाने का एक कैदी अगर दूसरे कैदियों पर जमादार बना दिया जावे तो भी वह क़ैदी ही है और दूसरे कैदियों को घृणा की दृष्टि से देखने योग्य नहीं हो सक्ता है, उस को तो कैदी होने के कारण लज्जा ही आनी चाहिये।

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपोवपुः
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः

अपने ज्ञान का, प्रतिष्ठा का, कुलका, जाति का, बलका, ऋद्धि का, तपका, अपने सुन्दर शरीर का मान करना, यह आठ प्रकार का मद त्यागने योग्य है।

सन्मार्दवं समादाय दुःखदुर्गतिकारकम्
मदाष्टकं त्यजे द्धीमान दर्शन ज्ञान प्राप्तये

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के वास्ते बुद्धिमानों को दुख और दुर्गति के देने वाले यह आठों मद त्याग कर मार्दवभाव ग्रहण करना चाहिये।

अहंकारं हियः कुर्यादष्टभेदं कुदुःखदम्।
विनाश्य दर्शनं सोपि नीचो नीच गतिं व्रजेत्॥

जो कोई महा दुखदाई इन आठ प्रकार के अहंकारों को करता है वह नीच अपने सम्यग्दर्शन को नाश कर के नीच गति ही पाता है।

सदं वाना त्वया मित्र पीतं दुग्धं भवार्णं वे,
भिन्न भिन्न विजातीनां साधिकं सागरां बुधेः।

हे मित्र तूने इस संसार में भ्रमण करते हुवे भिन्न भिन्न जाति की माताओं का दूध पिया है, अर्थात कभी भंगी वा चमार के यहां जन्म लिया है, कभी गधी वा सूरी कुत्ती के पेटसे पैदा हुवा है कभी विष्टाका कोड़ा वना है तव जाति वा कुल आदि का क्या मद कर सक्ता है, ऐसा ही अन्य मदों की वावत समझ लेना चाहिये और किसी से भी ग्लानि नहीं करनी चाहिये।

साधर्मिणां मुनीनां चदष्ठादोप विवेकिभिः
छादन क्रियते यच्चतद्भवे दुपगूहनं

किसी गृहस्थी धर्मात्मा वा मुनिका कोई दोप देख कर वुद्धिमान को चाहिये कि उस दोपको ढकें। यह ही उपगूहन गुण है, ऐसा ही करने से दोप दूर होते हैं। किसी के दोप उजगर कर देने से तो वह निर्लज्ज होकर उस दोप को छोड़ने की चेष्टा नहीं करता है किन्तु खुल्लम खुल्ला ही करने लगता है।

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः
धर्माच्च्युतस्य धर्मे तत्नाऽधर्मेऽधर्मणःक्षतेः

जो धर्म से पतित हो चुका है व पतित होने वाला है उसे फिर धर्म में स्थित कर देना यह सम्यक्त का स्थितिकरण अंग है।

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽ ध्यक्षान्स्वापर भेदतः
स्वात्मनःस्वात्मतत्वेऽथो त्परत्वेतु परस्य तत्

अपनी आत्मा के पतित होने पर अपने को और यदि कोई दूसरा पुरुष धर्म से पतित होजावे तो उसको फिर धर्म में लगा देना स्थितकरण है।

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात्
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः

जो भ्रष्ट होचुके हैं उन्हें दया भाव कर के फिर उस ही धर्म में स्थापन कर देना परस्थिति करण है।

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा
प्रतिपत्तिर्यथायोग्य वात्सल्यमभिलप्यते

कपट रहित सच्चे भाव से धर्मात्माओं से यथायोग्य प्रीति रखना वात्सल्य है।

अज्ञानतिमिर व्याप्तिमया कृत्य यथा यथम्,
जिन शासनमाहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥

संसारी जीवों के हृदय में जो अज्ञान अंधकार छाया हुआ है उस को सत्यार्थ ज्ञान के प्रकाश से दूर कर के जैन धर्म का माहात्म्य प्रकाशित करना प्रभावना है।